— — जिसने प्रेरणा दी

अनुक्रमणिका

परिचय

परिचय कराना साधारणतया सभी सम्बन्धित वस्तुओं और व्यक्तियों का आवश्यक होता है। जब हम किसी नये व्यक्ति से मिलते हैं, तो उसके संक्षिप्त परिचय की जिज्ञासा, उससे सम्बन्ध जोड़ने से पूर्व ही उत्पन्न हो जाती है।

"शान्ति की ओर" यह पुस्तक भी पाठकों के लिये नई है अतः इसका परिचय देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। चूंकि प्रकाशन से पूर्व ही इस पुस्तक के सम्पादक एवं प्रकाशक श्री जगदीश प्रसाद गोयल से तथा इस पुस्तक से पर्याप्त परिचय हो चुका है। सम्पादक की जिज्ञासा पर जगह-जगह इस पुस्तक में परिवर्तन, परिवर्धन एवं संशोधन का भी अवसर मिला है। सम्पादक ने इस पुस्तक के सम्पादन में अथक परिश्रम किया है। वर्षों से सत्पुरुषों के सहयोग द्वारा इसका सम्पादन करते रहे हैं। पुस्तक अपने ढंग की अनोखी है। इसमें खूबी यह है कि, प्रायः सब प्रकार के आध्यात्मिक पाठकों के काम की बातों से यह ओत प्रोत है। इसमें चतुर्दश रत्न तुल्य चौदह प्रकरण हैं।

प्रथम प्रकरण का नाम शान्ति है। चूंकि इस पुस्तक का नाम "शान्ति की ओर" है। यथा नाम तथा गुण के अनुसार शान्ति की ओर अग्रसर करना ही इसका उद्देश्य है। अतः इसमें शान्ति का दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रत्येक मनुष्य शान्ति का भूखा है परन्तु वह उसको प्राप्त करने के लिये बाहर दौड़ता है। विषयों में वह शान्ति प्राप्त करना चाहता है। वहाँ उसे सच्ची शान्ति का कभी भी दर्शन नहीं होता क्योंकि शान्ति बाह्य विषयों की देन नहीं है। वह तो अन्तरात्मा में मिलती है क्योंकि अन्तरात्मा में शान्ति स्वभाव से ही निवास करती है।

इस पुस्तक का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि जगत एवं जीव के परम आश्रय परमात्मा का साक्षात्कार किए बिना सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। अतः उस मूल-तत्व परमेश्वर के साक्षात्कार में सहायक तथ्यों का यहाँ ही रोचक एवं सरल भाषा में वर्णन किया गया है।

ज्ञान में जिज्ञासा का बड़ा महत्व है। क्योंकि जब जानने की इच्छा ही नहीं होगी, तो जानने की योग्यता होने पर भी कोई कैसे जान सकेगा अतः दूसरे प्रकरण में जिज्ञासा के स्वरूप का वर्णन है।

जिज्ञासा के बाद तीसरे प्रकरण में जगत के निर्माता का वर्णन है। जिसमें की मनुष्य की बुद्धि अनेक से एक पर केन्द्रित होती है।

चौथे प्रकरण में उस निर्माता द्वारा होनेवाले जगत की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का प्रकार बताया गया है जिसके ज्ञान से हृदय विशाल होता है।

पाचवें और छठवें प्रकरण में मानव जीवन की श्रेष्ठता और उसका चरम लक्ष्य बताकर, आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न की गई है।

सातवें प्रकरण में धर्म का निर्विवाद स्वरूप दिखलाकर धार्मिक उलझनें समाप्त कर दी गयी हैं।

आठवें तथा नौवें प्रकरण में क्रमशः ज्ञानदाता गुरु और ज्ञान प्राप्त करनेवाले शिष्य के स्वरूप तथा योग्यता का विचार है।

दसवें तथा ग्यारहवें प्रकरण में कर्म तथा आसक्ति के स्वरूप का वर्णन है, जिसका सारांश यह है कि आसक्ति-पूर्वक किया हुआ कर्म, बंधन का हेतु तथा आसक्ति रहित निष्काम कर्म, अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा मुक्ति का हेतु है।

अन्तःकरण के तीन दोष होते हैं — १—मल २—विक्षेप ३—आवरण। राग-द्वेष को मल, चंचलता को विक्षेप, और अज्ञान को आवरण कहते हैं। मल दोष की निवृत्ति ही अन्तःकरण की शुद्धि है। वह निष्काम कर्म से होती है। विक्षेप अर्थात् चंचलता रूप, दोष की निवृत्ति योग या उपासना (भक्ति) द्वारा होती है। अतः बारहवें तथा तेरहवें प्रकरण में क्रमशः योग एवं भक्ति (उपासना) का निरूपण किया गया है।

मल विक्षेप की निवृत्ति हो जाने पर आवरण अर्थात् परमात्मा के स्वरूप पर केवल अज्ञान का पर्दा मात्र रह जाता है। अतः चौदहवें प्रकरण में ज्ञान का विवेचन किया गया है।

ज्ञान, अज्ञानरूप आवरण को मिटा देता है। आवरण मिटते ही परमात्मा के स्वरूप का प्रकाश हो जाता है। तब मनुष्य परमात्मा के शुद्ध स्वरूप में ही रमण करता है। वह आत्माराम व आप्तकाम हो जाता है। उसका न कुछ जानना बाकी रह जाता है और न कुछ पाना। जो कुछ जानना था जान गया, जो कुछ प्राप्त करना था प्राप्त कर लिया। वह सदा कृतकृत्यता का अनुभव करता है। वैसे ही महान् पुरुष का उद्गार है —

पाना जिसे था पा लिया, पाना न अब कुछ शेष है।
करना जिसे था कर लिया, करना न अब कुछ शेष है।

ऐसे महापुरुष को ही जीवन-मुक्त कहा जाता है।

जिसने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया उसका जीवन सफल हो गया, अतः इसी को दृढ़ करते हुये ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है।

मेरा विश्वास है कि, यह पुस्तक सब प्रकार के आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को प्रेरणा प्रदान करेगी। जो पढ़ेगा उसे अवश्य प्रकाश मिलेगा। मनोबल बढ़ेगा ज्ञान की वृद्धि होगी। इसके हृदयगम होने पर पूर्ण आनन्द व परम शान्ति की प्राप्ति होगी।

शान्ति की ओर

मेरी हार्दिक सद्भावना है कि, पाठक इसमें पूर्ण लाभ उठाकर मानव जीवन को सफल बनावे।

अंत में इस पुस्तक के प्रकाशक तथा उनके सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। आनंद घन प्रभू से प्रार्थना है कि, वे सदा उनके मन-मंदिर में विहार करें।

स्वामी० विद्यानन्द

पता–
अध्यक्ष स्वामी प्रेमपुरी जी सत्संग मंडल
ब्लाक न. १२ ए, पावलोवा १०,
लिटिल गिब्स रोड, बंबई –६

आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम मैं हार्दिक आभार प्रदर्शन अपनी पूजनीया माताजी के प्रति करता हूं जिन्होंने बचपन में ही मेरी प्रवृत्ति, भगवान शिव की भक्ति में लगाई।

मैं श्री पण्डित रामनरेश जी का आभारी हूं जिन्होंने बचपन में ही मुझे रामायण और महाभारत की कहानियों के रूप में सुनाया था; जिसके फलस्वरूप मेरी प्रवृत्ति धीरे-धीरे धर्म में बढ़ती गई। ईश्वर की अनुकम्पा से सत्पुरुषों का संग मिलता ही गया। पूज्य श्री पं० वैद्यराज काशीराम जी की प्रेरणा से श्री गीता जी का अध्ययन किया तथा उनसे और भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ। विचार उठा कि, क्यों न इस ज्ञान को सर्वसाधारण के लिये सुलभ कर दिया जाय।

मैंने स्व० पं० श्री० गिरधर शास्त्री जी व्याकरणाचार्य (वृन्दावन निवासी) से तथा स्व० कविजी श्री ललित गोस्वामीजी (ब्रजवासी) से, इसे पुस्तक रूप में तैयार करने का अनुरोध किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। श्री शास्त्रीजी ने प्रमाणों को एकत्रित किया और श्री कवि जी ने अपनी साहित्य एवं सरल भाषा में लिपिबद्ध किया। तत्पश्चात् इसे कई एक महानुभावों एवं महात्माओं के द्वारा संशोधित करवाया। दैवज्ञ भूषण श्री पं० दुर्गाचंद जी ज्योतिषाचार्य (बेरी निवासी) ने इस पर भारी परिश्रम किया, फलस्वरूप इस पुस्तक का एक नवीन ही रूप बन गया। संशोधन एवं परिवर्तन में कई वर्ष बीत गये लेकिन इसका प्रकाशन नहीं हो सका।

अन्त में त्यागमूर्ति श्री गणेशानन्द जी महाराज ने अथक परिश्रम किया तथा इसमें उचित संशोधन किया। जहां कहीं कमियां रह गयीं थीं उन्हें पूर्ण की तथा श्री श्याम किशोर जी (वाराणसी निवासी) से इसे शुद्ध रूप में लिखवाया।

जिन अनेक महात्माओं के पुण्य चयनसे यह वाक्य पुष्पाञ्जलि पूर्ण हुई है, उनके प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूं। एवं उन लेखकों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूं जिनके लेखों से इस पुस्तक की रचना में सहायता मिली है।

यदि इस वाक्य पुष्पाञ्जलि से पाठकों का मन प्रफुल्लित हुआ तो मैं अपने आपको आभारी एवं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

जगदीशप्रसाद शायल

मंगलाचरण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च ।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः ।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात् तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः ॥
स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः ॥

सृष्टि के आरंभ में सर्व जीव मात्र जिनसे प्रकट होकर भास रहे हैं, जिनमें स्थित हैं और जिनमें ही लीन हो जाते हैं, उन सत्य स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, द्रष्टा दर्शन और दृश्य तथा कर्ता, करण और क्रिया-इनका जिनसे प्रादुर्भाव होता है उन ज्ञान स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।

जिनसे स्वर्ग भूतल आदि समस्त लोकों में आनन्द रूपी जल का स्फुरण होता है, जो समस्त जीवों के आधारस्वरूप हैं, उन विशुद्ध आनन्द स्वरूप परम ब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।

—००—

शान्ति

सुखार्थाः सर्वभूताना मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।

समस्त प्राणी-जगत् अनादि काल से सुख शान्ति के लिये लालायित है। सुख की खोज में वह बेचैन रहा, प्रयास करता रहा, लेकिन मिला कम को ही। आज भौतिक वैज्ञानिक अनुसंधान के युग में हमारा दृष्टिकोण, बाह्य जगत् की सफलताओं की ओर इतना खिंच गया है कि, अन्तर्जगत की अवनति का ध्यान ही नहीं। एक ओर भौतिक विज्ञान अपनी चरम सीमा की ओर बढ़ रहा है, एक दूसरे में होड़ लगी है, आकाश का मार्ग साफ़ किया जा रहा है, वहीं हमारा अन्तर्मन बेचैन और विक्षिप्त है। हमें चारों तरफ भयानकता का साम्राज्य दिखायी पड़ता है। हमें दूसरों से डरने की बात तो अलग, अपने से ही डर है। जो बात व्यक्ति की है वही विश्व के लिये भी कही जा सकती है। हमें जहां अपने पड़ोसी से अशान्ति की सम्भावना बनी है वहीं सारे भूमण्डल में, भौतिक विज्ञान ने अशान्ति का वातावरण उत्पन्न कर दिया है।

शान्ति की प्राप्ति कैसे हो, यह शान्ति है क्या, इसपर जरा विचार कर लें। शान्ति तीन प्रकार की मानी गई है —

१—भौतिक शान्ति २—आधिदैविक शान्ति ३—आध्यात्मिक शान्ति।

भौतिक शान्ति

भौतिक पदार्थों द्वारा शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, सन्तुष्टि प्राप्त होती है, उसे भौतिक शान्ति कहते हैं। गर्मी में हम प्यास से व्याकुल हैं, चित्त अशान्त है। उस समय थोड़ा सा ठंडा पानी ही शान्ति का हेतु है।

आधिदैविक शान्ति

जो शान्ति मानसिक विकारों का शमन करती है उसको आधि दैविक शान्ति कहते हैं। एक व्यक्ति ने अनुचित कार्य कलापों द्वारा धन प्राप्त किया है। वह देखने में स्वस्थ शान्त और सुस्थिर मालूम पड़ता है, लेकिन उसका मन सदैव उद्विग्न, बेचैन रहता है। उसे शान्ति नहीं, चैन नहीं। उसका मन अशान्ति से परिपूर्ण है। उसे शान्ति की आवश्यकता है। शान्ति उसे तभी मिल सकती है जब वह अपने अनुचित रूप से प्राप्त धन को सत्कार्यों में लगावे तथा भविष्य में फिर कभी न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ले।

आध्यात्मिक शान्ति

वह शान्ति है जिसे प्राप्त करने के बाद मानव मन मे, चाहे वह किसी भी परिस्थिति में हो, किसी प्रकार का विकार ही नही पैदा होता। ऐसी अवस्था में वह कामना रहित हो, अपने धर्ममें स्थित हुआ परिणाम की अपेक्षा न रख, तत्परतामे विहित कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ आनन्दमय रहता है। उस समय उसकी भावनायें केवल परमब्रह्म परमात्मा के ही तरफ उन्मुख रहती हैं। उसे चारो तरफ स्वय का ही प्रकाश दिखायी पड़ता है। विभेद का कोई स्थान ही नहीं रहता। वह सदैव आनन्द में ही लीन रहता है।

> आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
> समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
> तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
> स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
> विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
>
> गीता—२—७०।७१

जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल, उसको चलायमान न करते हुये ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिर बुद्धि पुरुष के प्रति संपूर्ण भोग, किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वह पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, न कि भोगों को चाहनेवाला। क्योंकि जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर, ममता रहित और अहंकार रहित स्पृहा रहित हुआ बर्तता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।

यही शान्ति उस पूर्ण पुरुष परमात्मा की शक्ति भी कहलाती है, जो कि समस्त चर अचर, (जड़-चेतन), में व्याप्त है। उसी शान्ति रूपी शक्ति को पुराण में देवी के नाम से पुकारा गया है—

> या देवी सर्व भूतेषु शान्ति रूपेण संस्थिता।
> नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

यो तो जीवन को सुखी बनाने के लिये दुनिया अनेक साधन काम में लाती है, किन्तु वास्तव में सुखमय आनन्दमय जीवन आध्यात्मिक शान्ति द्वारा ही होता है।

जब भौतिक शान्ति द्वारा ही सुख, आनन्द प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है तब उसका क्या परिणाम होता है यह आज विनाशकारी वैज्ञानिक आविष्कारों से स्पष्ट हो रहा है। आज मनुष्य जीवन का लक्ष्य एकमात्र नोटो का बंडल ही बन गया है जिसके बल पर वह सब कुछ कर लेना चाहता है। आज अधिकांश राष्ट्रों की यही

भीतर छिपी हुई है। इसलिये यह निश्चित है कि, जबतक हम अपने मन को बाह्य विषयों से हटाकर भीतर की ओर लगा, आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेंगे, हमें सपने में न शान्ति के दर्शन नहीं होंगे। और जब शान्ति ही नहीं तो सुख कहाँ?

अशान्तस्य कुतः सुखम्।
(गीता)

—oo—

जिज्ञासा

किसी भी आत्म अनात्म (चेतन–जड) पदार्थ के ज्ञान प्राप्त करने की किसी इच्छा विशेष का नाम जिज्ञासा है। इस प्रकार की जिज्ञासा करनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु कहलाता है। चूंकि हमारा लक्ष्य शान्ति प्राप्त करना है इसलिए यहां जिज्ञासा शान्ति प्रधान समझनी चाहिये।

यह जिज्ञासा कब और कैसे उत्पन्न होती है ?

पूर्व जन्म के संस्कार, शान्ति की स्वाभाविक अभिलाषा, अध्ययन, श्रवण, मनन और सत्सगसे ऐसी जिज्ञासाका जन्म होता है कि, हमें शान्ति कैसे मिल सकती है ? अपार संसार-सागर में डूबते हुये और घबराये हुये हम प्राणियों का आश्रय कहाँ है ? और वह कैसे मिल सकता है ?

कैसी जिज्ञासा सफल होती है ?

जलाशय में डूबते हुये व्यक्ति का दम घुटने लगता है तब उसे केवल हवा की ही जरूरत होती है, ताकि वह खुलकर श्वास ले सके। वैसे ही जबतक हमें शान्ति प्राप्त न हो, हमारा उसी प्रकार दम घुटता सा रहे और हम उसी प्रकार व्याकुल रहें जैसे जलाशय में डूबनेवाला, तभी समझना चाहिये कि हम सच्चे जिज्ञासु हैं।

जिज्ञासु को सब प्रथम यह जानना अनिवार्य है कि मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है, इस जगत् का निर्माता कौन है ? जिस प्रकार लौकिक कार्यों को देखकर हम उनके कारण का अनुमान लगाते हैं, उसी प्रकार जगत् रचना से उसके रचयिता का अनुमान लगाना चाहिये। जिस प्रकार घटपट आदि पदार्थ का बनानेवाला कोई न कोई होता है उसी प्रकार इस संसार का बनानेवाला निर्माता भी है। और वही हमारा भी निर्माता है जो कि शान्त महासागर है, जहाँ आसक्ति से पैदा होनेवाली सांसारिक सुख-दुःख रूपी लहरों का वेग नाम को भी नहीं है। जिसकी जानकारी और आश्रय प्राप्त होने पर हमको शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

—oo—

इच्छा है कि, हम सारे विश्व को अपने अधिकार में कर लें। भोग-विलास के समस्त साधनों पर हमारा ही अधिकार हो। विज्ञान के सारे प्रयास नाश के लिए ही हो रहे हैं। सुख के स्थान पर उनमें अशान्ति का वातावरण पैदा हो गया है। तृतीय महायुद्ध की कल्पना में ही मनुष्यमात्र का हृदय काँप उठता है, क्योंकि द्वितीय महायुद्धके भयंकर विनाश की लीलायें उसके सामने हैं और आज का विज्ञान तो पहले से भी कहीं ज्यादा भयानक हो चुका है।

वास्तव में देखा जाय तो यह परिस्थिति कुछ नई नहीं है। इतिहास पुनरावृत्ति करता है अर्थात् प्राचीनकाल में भी कुछ ऐसा ही होता रहा है। आखिर ऐसा क्यों?

मानव जब जब इन्द्रियों से ही अधिक से अधिक सुख शान्ति प्राप्त करने की कोशिश करता है, तब तब वह भौतिक-विज्ञान की ओर बढ़ता है। इसी खोज के सिलसिले में भौतिक-विज्ञान अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जाता है। फिर भी वह उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाता। उसे वह सुख नहीं दे पाता जिसे मानव पाना चाहता है। देता है सांसारिक क्षणिक सुख, जिसका परिणाम दुःख ही है, अशान्ति ही है।

प्रश्न उठता है कि भौतिक विज्ञान, उस सुख को देने में क्यों असफल रहता है जिसे मानव पाना चाहता है?

उत्तर यही है कि, वस्तु स्वभावके अनुसार ही फल देती है। यदि आप अग्नि से शीतलता प्राप्त करना चाहें, तो वह किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं। क्योंकि वह उसके स्वभाव और गुण के विरुद्ध है। इसी प्रकार भौतिक विज्ञान के द्वारा किया गया प्रयत्न, कभी भी शान्ति नहीं दे सकता। क्योंकि यह उसके स्वभाव के विरुद्ध है। अत ज्यों ज्यों भौतिक विज्ञान अपनी सीमा का अतिक्रमण करता है, त्यों त्यों उसी तीव्र गति से अशान्ति भी बढ़ती जाती है, जोकि उसका स्वाभाविक गुण है। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि, विज्ञान की शक्ति को जब जब प्रयोग में लाया जाता है तब तब वह विनाश की ओर ही ले जाती है। प्रयोग कर्ता को भी नष्ट करती है और स्वयं भी नष्ट हो जाती है।

मानव जब जब भोग्य पदार्थ में ही सुख शान्ति मान बैठता है, तब तब वह उन्हें संग्रह करने के लिये भौतिक विज्ञान की ओर हाथ बढ़ाता है। परन्तु वास्तव में इन भोग्य पदार्थों में आनन्द या शान्ति है ही नहीं। वह यह समझकर कि इनसे अधिक भोग्य-पदार्थ होने पर अवश्य ही सुख शान्ति मिलेगी, वह उचित अनुचित, किसी भी प्रकार से रात दिन एक कर, अधिक से अधिक भोग्य पदार्थ विज्ञान द्वारा जुटाने में लग जाता है। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा में एक मानव दूसरे मानव से अधिक संग्रह करना चाहता है। यहां तक की यह स्पर्धा विश्व भर में घर कर बैठी है। एक देश अपने पड़ोसी देश

अपना आप का अधिक नाकतवर साधन अपना बनाने के लिये अन्य शस्त्रों को सग्रह करने मे नही हिचकता। मारांश यह निकलता है कि, भोग्य पदार्थ सहज ही मे प्राप्त करानेवाला यह विज्ञान, हमे विनाशकारी शस्त्रों की बाढ में ला खड़ा करता है। इसमे विनाश ही है दुःख ही है, सुख और शान्ति नही।

जब हम अतीत के इतिहास का अवलोकन करते हैं, पढते है और कार्यों के परिणामपर दृष्टिपात करते हैं, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि, सामाजिक सुख की भावना से किया हुआ कार्य परिणाम मे दुःख ही देता है और दुःख किसी को भी अपेक्षित नही। इसलिये जो आत्म-ज्ञान परिणाम में सुख देता है, उसी का प्राप्त करके हम सुख तथा शान्ति का अनुभव कर सकते हैं। जैसा कि अनेक मनस्वियो ने किया है।

आत्म-ज्ञान मे ही शान्ति मिलना सम्भव है। इसके अतिरिक्त अन्य साधनो द्वारा इसकी प्राप्ति की चेष्टा की जाती है, तो वह उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार बालू से तेल नही निकल सकता, आकाश में फूल नही खिल सकता और वन्ध्या के पुत्र नही उत्पन्न हो सकता।

शान्ति कोई इतनी सुलभ नही कि जादू का डडा घुमाया और फौरन आ टपकी। उसके लिये तो समुचित साधना की जरूरत है। वैदिक काल मे हमारे महर्षियो ने वर्षो विहित साधना की, तब उन्हे ज्ञान की प्राप्ति हुई। जिसके प्रकाश में उन्होने शान्ति का अनुभव किया। और फिर चराचर मे शान्ति स्थापित करने के लिये उच्च स्वर से शान्ति पाठ किया।

> ॐ द्यौः शान्ति रन्तरिक्ष शान्तिः।
> पृथवी शान्तिराप शान्तिरोषधयः शान्ति ॥
> वनस्पतय शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः
> सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामाशान्तिरेधि ॥

इस वेद-मत्र का भाव यही है कि, शान्ति चराचर सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो रही है। वह पूर्ण शान्ति हमारे अनुभव में आवे।

ऊपर कहा गया है कि शान्ति सर्वत्र व्याप्त है, तो प्रश्न उठता है कि मिलती क्या नही? इसका उत्तर यही है कि जबतक उपयुक्त साधनो के द्वारा उसकी प्राप्ति का यत्न नही किया जायगा, तबतक वह प्राप्त होने हुए भी अप्राप्त सी ही रहेगी। उसी प्रकार जैसे की यह सर्व विदित है कि, घी दूध में ही है, यदि हम दूध को जलाकर घी निकालना चाहें तो कभी नही निकाल सकते, क्योकि हम घी निकालनेके अपेक्षित साधनो का प्रयोग न करके उसके विरुद्ध साधन काममें लाते है। इस प्रकार हम अज्ञानी, शान्ति प्राप्त करने के लिये उसी प्रकार भटक रहे हैं, जैसे सुगंध से मतवाला होकर हिरन जगल जगल भटकता फिरता है, वह नही जानता कि कस्तूरी जगल में नही, मेरी नाभिके

निर्माता

किसी चीज के निर्माण होने अर्थात् बनने के दो कारण होते हैं — १ निमित्त कारण २ उपादान कारण। निमित्त कारण वह है जिसके द्वारा वस्तु का निर्माण होता है। जो उसे बनाकर अलग हट जाता है। उपादान कारण वह है जो आदि, मध्य और अन्त तीनों अवस्थाओं में समान रूप से रहता है। जैसे घड़े का निमित्त कारण कुम्भकार है जो उसे बनाकर अलग हट जाता है। तथा उपादान कारण मिट्टी है जो आदि में, मध्य में और अन्त में भी वर्तमान रहती है। इसी प्रकार चराचर का निर्माता ईश्वर है। वही ईश्वर चराचर का निमित्त कारण बनकर उसे बनाता तथा उपादान कारण बनकर उसी में स्थित रहता है। उसमें रहते हुए भी उनसे अलग रहता है; अर्थात् उसके धर्मों से अलिप्त रहता है। यही उसकी विशेषता है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

(गीता ९–४)

मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह सब जगत जल से बर्फ के सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं। इसलिये वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं

प्रश्न उठता है कि एक ही वस्तु निमित्त कारण, और उपादान कारण कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यही है कि, संसार में प्रायः ऐसा देखने में तो नहीं आता परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं, जो निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। जैसे मकड़ी।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
तथा ऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥

(मुण्डकोपनिषद् खण्ड १, ७)

मकड़ी जिस प्रकार जाले की निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है, अपने अन्दर से निकालती और अपने अंदर लीन कर लेती है। उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण भी है और उपादान भी। जगत उसी से निकलता है और उसी में लीन हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना ही क्यों की ? उत्तर यही है कि, ईश्वर ने सृष्टि की रचना किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर नहीं की। वह तो स्वयं आन-

राम अनत ऐश्वर्य सम्पन्न और सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान हैं । अत उसने किसी प्रकार की कामना की पूर्ति के लिये नहीं की । बल्कि स्वभावत अपने ऐश्वर्य का प्रकट किया ।

देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्त कामस्य का स्पृहा ।
(माण्डूक्यकारिका १-९)

उनका आशय है कि परमेश्वर का ना यह स्वभाव है । जो आत्माराम हैं अर्थात जो अपने मे पूर्ण है उसे क्या स्पृहा हो सकती है ।

वह अपने ऐश्वर्य का विस्तार तीन गुणो (सत्व, रज, तम) से करता है जो उसमें शक्ति रूप स पहले से ही अवस्थित थे । उसी शक्ति को त्रिगुणात्मक माया या प्रकृति कहते है । उसका कार्य सृजन करना पालन करना और नाश करना है । भारतीय शास्त्रों में इसके तीन अधिदेवता माने गये है । सत् का विष्णु, रज का ब्रह्मा और तम का महेश । इनका कार्य सृजन करना, पालन करना तथा सहार करना है । यह तीनो देवता कर्तव्यपरायण होकर अपने उत्तरदायी विभाग का भार सम्हाल करते हैं अर्थात् ब्रह्मा ने जन्म दिया, विष्णु ने पाला पोषा और महेश ने मिटा डाला । इस प्रकार जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का क्रम चलता है । इस कार्य को माया या प्रकृति का कार्य कहते हैं । क्योकि कारण जब कार्य रूप मे परिणित होता है, तब उसकी अवस्था के परिवर्तन के साथ ही नाम का भी परिवर्तन हो जाता है । जैसे बीज मुख्य कारण जब विस्तार रूप मे आता है तब वृक्ष नाम प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार ईश्वर जब इन तीनों गुणों को अपने मे लय किये रहता है तबतक उसे ब्रह्म की सज्ञा देते हैं । और जब इन गुणो से सृष्टि का विस्तार करता है तब उसे ईश्वर कहते हैं ।

शक्ति सदा शक्तिमान् म रहती है । ईश्वर अपने नियामक शक्ति के द्वारा नियम्य जगत् का सचालन करता है । जैसे बिजली रूपी शक्ति पखे, इजन तथा अन्य रूपों में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करती है लेकिन पखा आदि भी बिजली के कणो (इलेक्ट्रोन) द्वारा ही बना है अर्थात् वह तत्वत बिजली के द्वारा बनाया भी गया है और बिजली से सचालित भी है । दूसरे शब्दो मे बिजली उसका नियामक है और बिजली नियम्य भी है । एक दूसरे के बिना कार्य असभव है । अर्थात् न तो बिना बिजली के पखा आदि ही कार्य कर सकते हैं न ही बिना पखे आदि के बिजली की शक्ति कुछ काम कर सकती है । उसी प्रकार ईश्वर को भी अपनी नियामक शक्ति के प्रदर्शन के लिये नियम्य वस्तु की आवश्यकता है और वह नियम्य वस्तु जगत् है । तात्पर्य यह है कि जगत् ईश्वर से ही बना है और इसका सचालन भी वही करता है । इस प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं । तात्विक रूप से दोनो एक ही हैं । लेकिन प्रतीति गुण तथा धर्म में एक दूसरे से भिन्न है। जैसे कोई भी स्थूल शरीर रूप और नाम धारण करके पचतत्व (पच भूत) से अलग प्रतीत होता है लेकिन उसकी स्थिति केवल तत्वो के द्वारा होती है । और वे तत्व ईश्वर

से ही प्रगट है। इस प्रकार म.परम्परागत सपर्क ईश्वर से चला आता है, लेकिन अलग प्रतीत होता है। उन तत्वों से निर्मित वस्तु भी उन तत्वों से अलग सी प्रतीत होती है। और वे उत्पत्ति और विनाश के रूप में परिणामी मालूम पड़ती है। तात्विक दृष्टि से उसमें कोई परिवर्तन नही होता जैसे घड़ा मिट्टीसे अलग सा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव मे घड़ा बनने के पूर्व वह मिट्टी ही था। लेकिन वह प्रकट नहीं हुआ था और विध्वस के बाद भी वह मिट्टी रूप से ही रहेगा। इसी प्रकार कोई भी नाम और रूपवाली वस्तु मध्य म जब आकार-प्रकार धारण करती है, तभी ऐसा प्रतीत होता है कि, अपने उपादान कारणा से पृथक है। वास्तव में इनमें कोई पृथकता नही।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य (ब्रह्म सूत्र २-१-१४)

कारण रूप ईश्वर से उत्पन्न कार्य रूप जगत अभिन्न है। जैसे मिट्टीसे उत्पन्न घड़ा मिट्टी स अभिन है।

—oo—

जगत की उत्पत्ति और लय की प्रक्रिया

उत्पत्ति की प्रक्रिया

माया शक्ति विशिष्ट ईश्वर ने अपने सत्य संकल्प से सबसे सूक्ष्म आकाश की उत्पत्ति की। फिर आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, और जल से पृथ्वी बनाया।

सूक्ष्म शरीर

इन उपर्युक्त सूक्ष्म पंचभूतों (पंचतत्वों) के सम्मिलित सत्व गुण अंश से, अन्तःकरण चतुष्टय (मन बुद्धि चित्त और अहंकार) उत्पन्न हुआ। और इन्हीं के सम्मिलित रजोगुण अंश से पंच प्राण (अपान, समान, प्राण, उदान और व्यान) उत्पन्न हुये।

एक एक सूक्ष्म तत्व के सत्व गुण अंश से ज्ञान इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। रजो गुण अंश से कर्म इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई तथा तमोगुण अंश से उनके गुण (पंचतत्वों के गुण) या इन्द्रियों के विषय की उत्पत्ति हुई।

आकाश	के	सत्वगुण	अंश	से	श्रोत्र (कान)।	पंच ज्ञानेन्द्रियां
वायु	के				त्वचा।	
तेज	के				नेत्र।	
जल	के				रसना (जिव्हा)।	
पृथ्वी	के				नासिका।	
आकाश	के	रजोगुण	अंश	से	वाक् (वाणी)।	पंच कर्मेन्द्रियां
वायु	के				हाथ।	
तेज	के				पैर।	
जल	के				आनन्द्रिय।	
पृथ्वी	के				गुदा।	
आकाश	के	तमोगुण	अंश	से	शब्द।	
वायु	के				स्पर्श।	
तेज	के				रूप।	
जल	के				रस।	
पृथ्वी	के				गंध।	

इस तरह अन्तःकरण चतुष्टय, पंचप्राण, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां इन उन्नीस तत्वों को सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

जीव

उन्नीस सूक्ष्म तत्वों वाले सूक्ष्म शरीर में चेतन का आभास तथा अधिष्ठान चेतन, ये सब मिलकर जीव कहलाते हैं।

स्थूल शरीर

जीव बिना स्थूल शरीर और स्थूल सृष्टि के सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं कर सकता अर्थात् ऐश्वर्य का उपभोग नहीं कर सकता। अतः ईश्वर ने जीवों के कर्मानुसार भोग भोगने के लिये आकाश आदि पंच भूतों का पंचीकरण करके स्थूल जगत् प्रकट किया। अर्थात् एक एक तत्व में उनका अपना आधा भाग और शेष आधे में चारों तत्वों का समान अंश का मिश्रण करके स्थूल जगत प्रकट किया। जिसमें स्थूल शरीर तथा उनके पोषण के लिये अन्न आदि उत्पन्न किये।

इस प्रकार माया और माया के कार्यों से तीन प्रकार के शरीर उत्पन्न हो गये।

१—कारण शरीर २—सूक्ष्म शरीर ३—स्थूल शरीर।

ईश्वर का कारण शरीर शुद्ध सत्वगुण प्रधान माया है। जीव का कारण शरीर मलीन सत्वगुण प्रधान अविद्या है।

ईश्वर का सूक्ष्म शरीर सब जीवों का सूक्ष्म शरीर मिलाकर है। जीवों का सूक्ष्म शरीर उन्नीस तत्वों का है जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

ईश्वर का स्थूल शरीर ब्रह्माण्ड है और जीवों का स्थूल शरीर तो प्रत्यक्ष है।

जो कुछ समष्टि (ब्रह्माण्ड) में है वही व्यष्टि (पिण्ड) में है। (यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे)। व्यष्टि का आधार समष्टि है। इस प्रकार समष्टि अधिदेवता है तथा व्यष्टि अध्यात्म है। क्योंकि व्यष्टि में जीव की आत्मबुद्धि होती है।

समष्टि का नेत्र सूर्य है जो व्यष्टि के नेत्र का देवता है।
समष्टि " श्रोत्र दिशा " " श्रोत्र " " "
" की त्वचा वायु " " " " त्वचा " " "
" " रसना वरुण " " " " रसना (जिह्वा) "
" " नासिका अश्विनीकुमार " " नासिका " "
" " वाणि अग्नि है जो व्यष्टि की वाणी का देवता है।

समष्टि	का	हाथ	इन्द्र	है	जो	व्यष्टि	के	हाथ को देता है।
"	"	पाव	उपेन्द्र	"			"	पाँव " "
"	"	लिंग	प्रजापति	"		"	"	लिंग " "
"	"	गुदा	यम	"	"		"	गुदा " "

वास्तव में समष्टि व व्यष्टि की भिन्न सत्ता नहीं है। इस प्रकार जीव आनन्द की प्राप्ति के लिये अज्ञानवश अपने कर्मानुसार वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य देव आदि योनियों को प्राप्त करता रहता है।

लय की प्रक्रिया

सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् निरन्तर नियमानुसार परिवर्तन को प्राप्त होता रहता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप ही जैसे क्रमानुसार आकाश आदि चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई, उसके ठीक विपरीत क्रम से उनका निश्चित समय पर विलयन होता है। प्रलय-काल होने से पूर्व सौ वर्ष तक भयंकर अनावृष्टि होती है। उसके बाद सावर्तक मेघों द्वारा सौ वर्षों तक हाथी के सूंड के समान मोटी धारा गिराने वाली भयंकर वर्षा होती है। सम्पूर्ण पृथ्वी जल में लीन हो जाती है। जल तेज में लीन हो जाता है। तेज वायु में लीन हो जाता है। वायु आकाश में लीन हो जाती है। आकाश ईश्वर में लीन हो जाता है। अर्थात् वायु के द्वारा पृथ्वी का गंध, गुण हरण कर लिये जाने पर पृथ्वी जल में, तेज द्वारा जल का रसगुण हरण कर लिये जाने पर जल तेज में, अधकार द्वारा तेज का रूप गुण हरण कर लिये जाने पर तेज वायु में और आकाश के द्वारा वायु का स्पर्शगुण हरण कर लिये जाने पर वायु आकाश में और काल द्वारा आकाश का शब्द गुण हरण कर लिये जाने पर आकाश ईश्वर में लीन हो जाता है। अर्थात् अंततागत्वा एक ईश्वर ही ईश्वर रह जाता है। जैसे मकड़ी अपने अंदर से जाला निकालकर उस पर विहार करती है फिर उसको अपने अंदर ही निगल जाती है। उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि और प्रलय का खेल करता रहता है।

> यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
> तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ।।
>
> श्रीमद्भागवत ११–९–२१

जैसे मकड़ी अपने हृदय से मुँह के द्वारा जाला फैलाती है, उसी में विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है वैसे ही परमेश्वर भी उस जगत को अपने में से उत्पन्न करते हैं उसमें जीव रूप से विहार करते हैं और फिर उसे अपने में लीन कर लेते हैं।

—oo—

मनुष्य योनि की श्रेष्ठता

भारतीय सृष्टि क्रम के अनुसार विधाता ने भूचर, खेचर और जलचर, तीन प्रकार के प्राणियों में से सबसे पहले वृक्ष बनाया, फिर कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि बनाये। खाना, पीना, सोना, भय मानना, मैथुन करना, मल-मूत्र त्यागना, तथा शारीरिक सुख के लिये चेष्टा करना इनमें स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। इस प्रकार चौरासी लाख योनियाँ बनाने पर भी उस निर्माता को अपने निर्माण से सन्तोष नहीं हुआ। अंत में उसने मनुष्य का निर्माण किया, जिसे देखकर उसका हृदय संतोष से भर गया।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदय: पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

श्रीमद्भागवत ११-९-२८

भगवान ने अपनी अचिन्त्य शक्ति माया से वृक्ष सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु) पशु, पक्षी, डांस, और मछली आदि अनेक प्रकार की योनियाँ रची। परन्तु उनसे उन्हें संतोष नहीं हुआ। तब उन्होंने मनुष्य शरीर की सृष्टि की। यह ऐसे बुद्धि से युक्त है, जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकती है। इसकी रचना करके वह बहुत आनन्दित हुए।

या तो संसार में अनेक मत मतान्तर प्रचलित हैं और उनकी कितनी शाखायें प्रशाखायें हैं, जो कि ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के बारे में हमें काफी जानकारी देते हैं। उन सब मतों में जहाँ काफी हदतक समानता है वहाँ साथ ही भिन्नता भी है। अपनी तर्क तलवार से वे दूसरे का मत-मस्तक काट सकते हैं तो दूसरे या तीसरे मत के तर्क-त्रिशूल से कट भी सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जबसे मानवी सृष्टि बनी, जब से मनुष्य की बुद्धि उडान भरने लगी, जबसे वह देवता, अवतार, पैगम्बर, फरिश्ता के रूप में दुनियाँ में आया, तबसे अब तक लाख कोशिश करने पर भी कोई ऐसा सम्प्रदाय मत या मार्ग नहीं बना जो कि सर्वमान्य हो। सबको एक समान भा जाय, एक सा पसन्द आ जाय। एक ही रास्ता समझ, एक ही मंजिल निश्चित कर, एक ही चाल से सारी दुनिया उस पर चल पडे। ईश्वर भक्त, अल्लाह के बन्दे या ईसा के प्यारों में कोई अंतर या फरक की बात ही न हो।

इतना मत पृथक् होने पर भी सर्वमान्य है एक चीज प्रायः यह है—मनुष्य योनि की श्रेष्ठता। अर्थात् मानव दुनिया का सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। साथ ही यह भी सब लोग चाहते हैं कि वह पूर्ण आनन्दमय रहे, उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त हो।

इसलिये हम मत मतान्तरों की भूल-भुलैया में न भ्रमकर सीधे अपने लक्ष्य पर आ जायें। क्योंकि इन्हें जीवन में उतारने की कोशिश न करके केवल शब्दों को ही पकड़कर जब हम दुराग्रह कर बैठते हैं, तब हमारा दुराग्रह परस्पर वाद विवाद का विषय का और असफलता का कारण बन जाता है। इसी से इतने मत-मतान्तर फैलने पर भी हम अशान्त हैं। और उस चिर-शान्ति जन्य अखण्डानन्दामृत प्राप्त करने में असमर्थ हैं जिसे पाने का हमें पूर्ण अधिकार है।

—००—

मानव जीवन और उसका चरम लक्ष्य

मनुष्य के श्रेष्ठता के प्रमाण में जैसा ऊपर कहा गया है कि विधाता ने बहुत बड़ा प्रयोग किया जो वृक्षों से शुरू हो कर मनुष्यों पर जाकर सफल हुआ। च मानव शरीर में ही सभी इन्द्रियां तथा अन्तःकरण का पूर्ण रूप से विकास होता है, इ लिये वह कुशल कलाकार जो तत्व डालना चाहता था वह मनुष्य के ही चोले में ड गया। और वह तत्वविशेष है उसके मनन करने की शक्ति–प्रज्ञा शक्ति। अन्य जी में अपने निर्माता के जानने की शक्ति नहीं थी। इसलिये उसने कार्यों द्वारा निर्माता शक्ति तथा स्थिति के जानने के उद्देश्य से ही इस विशेष जीवधारी का निर्माण कि इसीलिये सिद्ध हुआ कि मनुष्य के निर्माण का मुख्य उद्देश्य अपने निर्माता का पूर्णरू ज्ञान ही है। उसी को दूसरे शब्दों में ब्रह्म साक्षात्कार, अपरोक्ष अनुभूति तथा आ ज्ञान कहते हैं, जिसे प्राप्त कर मनुष्य पूर्ण शान्ति, अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवों में क्रिया शक्ति ही होती है। ज्ञान शक्ति ना मात्र का होती है। कारण यह कि उनके अन्तःकरण में मन, बुद्धि और चित्त यह तीन वृत्तियां प्रसुप्तावस्था में होती हैं। इनका जीवन निर्वाह तो केवल एक अहंकार वृत्ति से होता है। जैसे हाथी संसार का एक बड़ा बलवान शक्तिशाली जानवर है लेकि उसको अपनी विशाल शक्ति का ज्ञान नहीं। यदि यही ज्ञान हो जाय तो वह अल्प शक्तिवान् महावत और उसके छोटेसे अंकुश के वश कभी न हो।

चौरासी लाख योनियों में से शरीर निर्वाह के लिये जो भी वस्तु (जीवों) के सामने आई उसने उन्हीं पर सकल्प–विकल्प किया। उसी का बुद्धि ने निश्चय किया उसी का अहंकार हुआ तथा उसी का चित्त पर संस्कार पड़ा। किन्तु मनुष्य में मनन करने की विशेषता है। इसलिये भूत, भविष्य, वर्तमान आगे, पीछे, दूर तक विचार करके, अपने सुख के लिये अच्छे से अच्छे, ज्यादे से ज्याद साधन जुटा, अपनी विषय वासना पूर्ण करके, शान्ति पाने का बराबर प्रयत्न करता रहा। सारी धरती के भोग भोगने पर भी जब उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई तब उसने जप तप, यज्ञ, अनुष्ठान, पूजा आदि का सहारा ले स्वर्ग की प्राप्ति की।

स्वर्ग कैसा है जहां नन्दनवन है, कल्पवृक्ष की शीतल छाया है, रमण करने को उर्वशी, मनका, तिलोत्तमा आदि अप्सरायें हैं, सुनने का मधुर संगीत है और पीने का अमृत है। इसाई और इस्लाम धर्म म भी स्वर्ग लोक की कुछ ऐसी ही कल्पना पायी जाती

है। ईसाई उसे हैवेन (Heaven) के नाम से पुकारते हैं। उनका विश्वास है कि अच्छे कर्म करने पर गॉड (God) उन्हें हैवेन में भेजेगा जहाँ पृथ्वी से कई गुना भोग की सामग्री प्राप्त होगी। मुसलमानों का भी करीब करीब यही ख्याल है कि, खुदा जन्नत में रहना है जहाँ बेशुमार हूरें हैं, जगह जगह खूबसूरत तालाब और बाग बगीचे हैं। पीने को अंगूरी शराब है।

मान लिया यह सब ठीक है, क्योंकि हर प्राणी दुःख से भागता है और अधिक से अधिक सुख चाहता है। परन्तु वह सुख कितने दिन का। आखिर उसका भी छोर है, अंत है। वह अनन्त आनन्द नहीं। जितने हमारे पुण्य (अच्छे कर्म) हैं उतने काल तक हम स्वर्ग का सुख लूट सकते हैं। परन्तु जहाँ हमारे पुण्यों का खजाना खाली हुआ कि, ऊपर से ढकेल दिये गये नीचे की ओर, पृथ्वी पर न चाहते हुए भी।

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्य समाप्यते ।
क्षीण पुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥
(श्रीमद्भागवत ११-१०-२६)

जब तक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्ग में चैन की बंसी बजाता रहता है, परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहने पर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है। क्योंकि, काल की चाल ही ऐसी है।

जब स्वर्ग तक पहुँच कर भी मनुष्य की अभिलाषा पूरी नहीं हुई, तब उसने भू, भुव, स्व, जन, तप, मह, सत्य अर्थात् ब्रह्म लोक को भी छान डाला। फिर भी उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त न हो सकी। सुख तो मिला किन्तु वे सब क्षणिक थे, क्योंकि ये सभी लोक परिवर्तनशील हैं। इस कारण उसे फिर उसी दुःख और अशान्ति में फंस जाना पड़ा जिससे छुटकारा पाने के लिये उसने आकाश पाताल एक कर डाला था। आखिर सब तरफ से थक कर, तंग आकर वह इस नतीजे पर पहुँचा कि शान्ति बाहरी विषयों में नहीं है। जो बड़े चित्ताकर्षक मन मोहक और लुभावने मालूम होते हैं। शान्ति तो वास्तव में मेरे ही भीतर विद्यमान है। वह कहीं दूर न जाकर अपने आप में ही मिल सकती है। तब उसने साधना द्वारा अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को बाहर की ओर से मोड़कर भीतर की ओर लगाया। यानी बहिर्मुखी वृत्तियां को अन्तर्मुखी किया। इस प्रकार वह आत्मज्ञान की ओर बढ़ा। आत्मसाक्षात्कार किया। तभी उसे शान्ति अनुभव हुई और उसने संसार को शान्ति का मार्ग बताया। हमें भी इसी शान्ति-पथ पर जल्दी चलना चाहिए, क्योंकि काल चक्र घूम रहा है। फिर दिन होता फिर रात होती है, पल पल कर जीवन का पुण्य काल बीता जा रहा है। कब दवाम बन्द हो जावे कुछ पता नहीं। जिन्दगी बिजली की चमक की तरह अस्थिर है। जीवन क्या है? पानी का एक बुलबुला, क्षणभंगुर, नाशवान, इसलिये हमें तुरन्त चेत जाना चाहिये। फौरन जाग जाना चाहिये। यह अन-

मानव शरीर हमें अनेक जन्मों के बाद मिला है। आगे भी मनुष्य शरीर ही मिलेगा इसका कोई भरोसा नहीं। अगर मनुष्य होकर भी हम अपनी कमी को पूरा न कर सके, अर्थात् अखण्ड आनन्द, पूर्णशान्ति न प्राप्त कर सके, सांसारिक भोगोंमें फंसे रहकर यह जन्म भी गवा दिया, तो हमसे बढ़कर अभागा और कौन होगा।

समय बीत गया तो हमें उसी प्रकार पछताना होगा जैसे किसी आदमी को कहीं कुछ रत्न मिल गये। वह मूर्ख उन्हें कंकड़ समझकर अपने खेत में बैठा हुआ उनसे पक्षियों को उड़ाता रहा और वे सब रत्न पास ही बहती हुई नदी की तीव्र धार में पड़ते रहे। जब केवल एक रत्न बाकी रह गया, तब अकस्मात एक जौहरी वहां से गुजरा और उसने बताया कि यह तो अमूल्य हीरा है। उस आदमी ने फौरन अपने सिर पर हाथ दे मारा हाय! मैंने तो ऐसे कितने ही हीरे गवा दिये।

मनुष्य होकर भी हम भोग ही भोगते रहे तो हममें और एक साधारण पशु में कोई अन्तर ही नहीं। जैसे एक महात्मा बैठे हुए थे। उनके पास एक कुत्ता आकर बैठ गया। वहां से गुजरते हुए किसी असभ्य आदमी ने पूछा कि तुम दोनों में श्रेष्ठ कौन है? महात्मा ने कहा—यदि मैं प्रभु की सेवा के लिये सत्कर्म करता हूँ तब तो मैं श्रेष्ठ हूँ और अगर भोग विलास में जीवन बिताता हूँ, तो मेरे जैसे सैकड़ों मनुष्यों से यह कुत्ता श्रेष्ठ है।

इसलिये हमें तुरन्त ही अपने जीवन के चरम लक्ष्य— सच्ची शान्ति प्राप्ति— की ओर बढ़ना चाहिये।

जब भलीभांति अनुभव द्वारा सिद्ध हो चुका कि, शान्ति बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने पर ही मिल सकती है, तब हम वैसा ही अभ्यास करें। इससे पहले हममें कौन-कौन सी इन्द्रियां तथा वृत्तियां हैं तथा उनके क्या क्या कार्य हैं, विस्तार से ज्ञान लेना आवश्यक है। क्योंकि एक जानकार समझदार सारथी ही घोड़ों को सधताही चाल से चलाकर, रथ को मनचाही दिशा में घुमा सकता है।

मनुष्य के शरीर में दस इन्द्रियां होती हैं। कान त्वचा, आंख जिह्वा (रसना) और नासिका, क्रमशः इनसे हम सुनते, छूते देखते, रस लेते और सूंघते हैं। इनके द्वारा ज्ञान होता है। इसलिये ये ज्ञान-इन्द्रिय कहलाती हैं। वाणी, हाथ, पांव, लिंग और गुदा इनके द्वारा हम बोलते, चेष्टा करते, चलते, मूत्र, मल त्यागते हैं। इनसे कर्म किये जाते हैं। इसलिये ये कर्म इन्द्रिय कहलाती हैं। शरीर का सारा व्यापार इन्हीं दस इन्द्रियों से पंच प्राण के आधार पर चलता है। अपान समान, प्राण, उदान और व्यान—इन्हें पंच प्राण कहते हैं।

अंतःकरण चतुष्टय—यानी चार वृत्तियों वाला अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त।

मन.

मन का कार्य है—ज्ञान इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसपर संकल्प-विकल्प करना यानी करूं या न करूं, जाऊं या न जाऊं मिलूं या न मिलूं। हम कोई भी अच्छा काम करने का जब निश्चय करते हैं तो मन हमें डिगाने की कोशिश करता है। क्योंकि वह अपनी आदतसे लाचार है। तात्कालिक इन्द्रिय सुख ही चाहता है। फल क्या होगा, लाभ होगा या हानि, यह सोचना समझना इसका काम नहीं। उदाहरण के लिये जैसे आपने निश्चय कर लिया कि, सवेरे ५ बजे उठकर टहलने जाया करेंगे। जैसे ही घड़ी ने पांच का अलाम बजाया, मन झुंझला उठा कि घड़ी ने पांच बजा दिये। क्योंकि गुदगुदे गद्दे पर आपको मीठी मीठी नींद आ रही थी। क्षण भर बाद मन ने कहा—राग अलापने लग गये अब तो उठ जाना चाहिये। दूसरे क्षण कहने लगा नहीं, पन्द्रह मिनट और लेट ले। आखिर करवट बदलते बदलते ६ बज गए, सूर्योदय हो गया। मन बोला बहुत देर हो गई अब तो उठ जाओ। आप उठ बैठे लेकिन आलस्य नहीं गया। इन्द्रिय सुख में मतवाला मन फिर बोल उठा—आज देर हो गई, कल से जाना। चाय बने, तब तक एक लेट और लगालें। आप फिर सो गये और मुश्किल से आठ नौ बजे कहीं उठे।

अथवा यों समझ लीजिये। आप के शहर में कोई बड़े महात्मा आये हैं। आप सत्संग के लिये जाने ही वाले हैं कि आपका कोई मित्र आ जाता है। पूछता है—कहां चले? आपने कहा—सत्संग में। मित्र ने कहा—सत्संग छोड़ो सिनेमा चलेंगे। आपने भी सोचा—वहां साधु संतों में क्या लेंगे, चलो सिनेमा ही देख आएं। फिर ख्याल आया—नहीं सिनेमा तो रोज ही देखते हैं। महात्मा जी कल चले जायेंगे इन्हीं के पास चलना चाहिये। आपने इन्कार किया तो दोस्त ने फिल्म की तारीफ के पुल बांधे। एक्टर एक्ट्रेसों के नाम बताए और आप सत्संग छोड़ कर सिनेमा हाउस चल पड़े।

हालांकि आपकी बुद्धि ने जो निश्चय किया था कि टहलने जायेंगे, वह बहुत ही अच्छा था। आपका स्वास्थ्य बढ़ता आपकी उम्र बढ़ती। शरीर नीरोग रहता और दिनभर फूर्ती रहती। मगर मन ने संकल्प विकल्प करके बुद्धि को भ्रमा दिया। उसने सो जाने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार आप एक अच्छा कार्य न कर सके जो आप को करना चाहिये था। इसी तरह आप सत्संग में चले जाते तो आपकी बुद्धि निर्मल होती, आप वहां से कुछ लेकर, विवेक ज्ञान प्राप्त करके आते किन्तु यहां पर भी मन वैरी बन गया। उस दुष्ट ने वहीं तात्कालिक सुख नाच गाने को देखा प्रेम का रूप ही निहारा साधु संग और भजन से भविष्य में होने वाले लाभ की वह कल्पना भी न कर सका।

बुद्धि

संकल्प विकल्प के बाद किसी निश्चय पर पहुंचने वाली वृत्ति का नाम बुद्धि है। इसका कार्य है—समझना, निश्चय करना, आज्ञा देना। हर आदमी हर चीज नहीं

समझ सकता। क्यों ? इसलिये कि उसमें उतनी ही बुद्धि होती है, जो उसके जीवन से सम्बन्ध रखने वाले काम धन्धों को आसानी से कर सके।

एक छोटे बच्चे को लीजिये जो अभी घुटने के बल चलता है। मां-बाप को जानना, दूध और पानी पी लेना, खिलौने से खेलना। बस उसकी बुद्धि यहीं तक सीमित है। और तो और अभी गोदी से भी उसका परिचय नहीं हुआ। संसार कितना बड़ा है, उसमें क्या क्या चीजें हैं, मां बाप के अलावा मेरे कौन कौन नातेदार हैं, इन सब बातों का उसे बिल्कुल ज्ञान नहीं। लालटेन सामने आई, या आग दिखाई दी, तो चमकीली चीज होने के कारण कौतूहल वश बच्चा दौड़ पड़ा उसे पकड़ने के लिये। ऐसा क्यों हुआ? इसीलिये कि अभी उसमें इतनी समझ नहीं आई कि वह लालटेन या आग से जल जाने की कल्पना कर सके। माता ही, जिसे इन चीजों का ज्ञान है छूने से रोकती है–"ना बेटा ना"। धीरे धीरे बच्चा बड़ा होने लगता है और उसकी बुद्धि भी बढ़ने लगती है। अब वह पैरों से चलता है। गाती गाता है और अपने साथियों के साथ खेलता है। वह जवान होता है, उसकी समझ और भी बढ़ जाती है। यहां तक कि वृद्ध होने पर उसकी बुद्धि का भण्डार प्राय भर जाता है। अब उसमें इतनी समझ आजाती है कि वह दूसरे कम उम्र वालों को किसी विषय पर कुछ समझा सके।

बुद्धि के विकास होने यानी समझ के बढ़ने में नीचे लिखी चीजें प्राय सहायक होती है –

माता पिता, तथा परिवार के अन्य लोग, मित्र, गुरू, विविध पुस्तकें, समाज, पर्यटन, और पूर्व जन्म के संस्कार आदि। इन्ही चीजों की कम या अधिक सहायता मिलने से बुद्धि मन्द और तेज होती है।

बुद्धि तीन प्रकार की मानी गई है –

१ रबर बुद्धि २ चर्म बुद्धि ३ वज्र बुद्धि।

रबर बुद्धि

जैसे रबर में सूई से छेद आसानी से हो जाता है लेकिन जरा सुई निकाली कि, छेद बन्द हो जाता है। वैसे ही रबर बुद्धि वाला की समझ में जल्दी आ जाता है लेकिन वे जल्दी भूल जाते हैं।

चर्म बुद्धि

जैसे चमड़े में छेद बड़ी मुश्किल से होता है। लेकिन एक बार हो जाने पर बन्द नहीं होता। उसी प्रकार चर्म बुद्धि वाला की समझ में देर से आता है परन्तु जहां एक बार समझ में आ गया तो वे भूलते नहीं।

वस बुद्धि

जैसे बाम का एक तरफ से जरा सा चीरा जाय तो उसकी छाल दूर तक अपने आप चिर जाती है। उसी प्रकार वश बुद्धि वालों को जरा सा समझाया नहीं कि आखिर तक समझ जाते हैं।

कोई कोई आदमी ऐसा भी पाया जाता है जिसमें बुद्धि होती ही नहीं। होती भी है तो नाम मात्र को, बहुत मोटी, जानवर के समान। जिस डाली पर बैठे उसी डाली को काटे, उसी का नाम शून्य बुद्धि या जड बुद्धि है। फिर भी निराश होने की जरूरत नहीं, क्यों कि कहा गया है कि –

'करत करत अभ्यास के जडमति होत सुजान।'

भिन्न भिन्न मनुष्यों की बुद्धि का झुकाव भिन्न भिन्न विषयों की तरफ होता है। जैसे-किसी की बुद्धि पढ़ने पढ़ाने में तेज होती है, कोई व्यापार में दिलचस्पी लेता है, किसी की सैनिक बनने में रुचि है तो कोई मशीनरी का काम करना चाहता है। इसी प्रकार संगीत, विज्ञान, वैद्यक, कारीगरी आदि में लोगों की बुद्धि को दौड़ते देखा जाता है। इस विभिन्नता का कारण पहले जन्म के संस्कार, परम्परा से प्राप्त विशेषता (खानदानी गुन का असर) तथा संगत आदि है। जैसा बीज होता है प्राय फल भी वैसा ही होता है। इसके अलावा अपवाद रूप में यदि चोर के घर साहूकार, पंडित के घर मूर्ख अथवा वकील के घर व्यापारी पैदा हो, तो समझना चाहिये कि पूर्व जन्म के संस्कार प्रबल और विशेष हैं। अथवा रज और वीर्य में उलट फेर हुआ है, भूमि किसी की है, बीज किसी का है, अथवा गर्भाधान काल में मा-बाप की वृत्तियाँ विपरीत हो गयी।

आदमी की कोई भी लाइन हो, कोई भी धंधा हो, इससे कोई खास बनाव-बिगाड नहीं। जरूरत इस बात की है कि बुद्धि स्थिर हो, शुद्ध हो तभी वह इत्मीनान से उस काम को पूरा कर सकेगा। बुद्धि चंचल हुई तो पहले किसी काम को उत्साह के साथ करेगा पीछे मजा न मिलने पर मन के कहने में आकर छोड देगा। आज मास्टरी, कल दुकानदारी तो परसों चोरी डकैती। डगमग बुद्धि-वालों का यही हाल होता है।

यह तो सांसारिक विषयों की बात हुई। जब आप अखंड आनन्द, पूर्ण शान्ति प्राप्त करने चलते हैं तब तो बुद्धि का अधिक स्थिर शुद्ध तथा निश्चयात्मक होना चाहिये। वह इतनी तेज हो कि कोई भी समस्या, कोई मसला सामने आते ही फौरन निश्चय करले कि मुझे क्या करना चाहिये। मेरा कल्याण किसमें है। उसका निर्णय उसका फैसला इतना श्रेयस्कर, इतना सही हो कि, भले ही उस समय विषय-सुख न मिलने के कारण आपका मन दुःख पाये, किन्तु परिणाम एकदम मीठा निकले। आपके पैर आनन्द-मार्ग पर आगे बढ़ते ही जांय। ऐसा न हो कि किसी जल्दबाज न्यायाधीश की तरह बुद्धि जल्दी में आज्ञा दे डाले और कोई निर्दोष फांसी पर झूल जाय।

कहने का सारांश यह है कि, आपकी बुद्धि निश्चयात्मक और निर्मल है तो व उधर सकल्प-विकल्प द्वारा उलझन डालनेवाले वैरी मन को कुचल देती है इधर दृढ़ होनेवाले अहंकार का धीरे धीरे नाश कर देती है।

अहंकार

तीसरी वृत्ति है अहंकार। जैसे ही बुद्धि कोई निश्चय करती है उसी क्षण अ कार हो जाता है कि, यह मैंने सोचा, यह मैंने किया, यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह पुत्र मेरा है, यह धन और धरती मेरी है। जैसा पहले बता आये हैं कि इन्द्रिय से स्थूल का ही ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये उनके द्वारा पचतत्व से बने शरीर को ही मानना तथा उस शरीर को सुख देनेवाली जो जो वस्तुएँ हैं उन्हें अपना समझना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार अहंकार के वश होकर मनुष्य यही समझता है कि, जो कुछ करता हूँ सो मैं ही करता हूँ। जो भी अच्छा कार्य होता है सब मेरे ही द्वारा होता है। उस अज्ञान को यह पता नहीं कि करनेवाला कोई और ही है।

> प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
> अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
>
> (गीता ३–२७)

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुये हैं, तो भी अहंकार से मोहित हुये अन्तःकरणवाला पुरुष "मैं कर्ता हूँ" ऐसा मान लेता है।

पता तब लगता है जब कोई काम उल्टा होता है या कोई भयानक विपत्ति आती है। क्योंकि पचतत्वों के घूमते हुए चक्र में उत्थान और पतन, जन्म और मरण, बारी बारी से दोनों आते रहते हैं। जब पतन का समय आता है, स्त्री मर जाती है, धन लुट जाता है, पुत्र कपूत निकल आते हैं, उस समय उसके अहंकार का सारा नशा हिरण हो जाता है और उसे मालूम होता है कि कर्ता "मैं" नहीं कोई और ही व्यक्ति है।

वह अज्ञानी दुःख के सागर में डूब जाता है और हायतोबा करता हुआ ईश्वर को दोष देने लगता है कि हाय राम यह तूने क्या किया। जरा सोचिये तो सही कि मनुष्य की कैसी विचित्र धारणा है कि सारे अच्छे काम करनेवाला 'मैं', और सारे बुरे काम करनेवाला परमात्मा।

कहने का मतलब यह है कि, अहंकार बुद्धि से जो भी कार्य किये जाते हैं, ममता होने के कारण वह सुख दुःख का कारण बनते हैं। चित्त में नये नये संस्कारों की छाप पड़ती चली जाती है जिससे हम मुक्ति से दूर रहकर फिर फिर जन्मते और मरते हैं। अहंकार के दायरे में जिस जिस वस्तु से हमारी जितनी ममता होती है उसके मिलने पर हम उतना ही सुख पाते तथा बिछुड़ने पर उतना ही दुःख अनुभव करते हैं। सुख-

दुःख का कारण जन्म या मृत्यु नहीं बल्कि ममता है, जो अहंकार का ही एक रूप है। अगर पुत्र जन्म में खुशी होती तो वह सभी को होती, परन्तु ऐसा तो देखने में नहीं आता। हुआ होगा किसी को पुत्र, नगर भर को कोई खुशी नहीं होती। पास पड़ोसियों को कुछ खुशी होती है, उससे अधिक नाते रिश्तेदारों को और सबसे अधिक खुशी होती है उसके माता पिता को, क्योंकि वे समझते हैं कि यह पुत्र हमारा है।

इससे सिद्ध हुआ कि सुख दुःख रूपी बंधन से मुक्त होने के लिए अहंकार का नाश करना अनिवार्य है। और वह स्थिर बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। उधर मन इधर अहंकार, बुद्धि के दो बड़े शत्रु। जब आप एक शत्रु, मन का दमन कर देते हैं तो दूसरे शत्रु, अहंकार की ताकत अपने आप कम हो जाती है।

चित्त

चौथी वृत्ति है चित्त। इसके दो कार्य होते हैं। १—अहंकार पूर्वक किये गये कार्यों का फलाफल (सुख-दुःख) अथवा सच्चिदानन्द स्वरूप का आनन्द अनुभव करना २—अतृप्त वासनाओं का प्रतिबिम्ब ग्रहण करना। यही प्रतिबिम्ब संस्कार बन,पुर्नजन्म का कारण बनते हैं।

चित्त का काम अनुभव करना है। कैमरा जिस तरह भले बुरे सभी दृश्यों को ग्रहण कर लेता है,उसी तरह जो भी भले-बुरे कार्य हमसे होते हैं,उनका अक्स बराबर चित्त पर पड़ता रहता है। उसी अक्स का नाम संस्कार है। अगर किसी तरह चित्त पर किसी भी संस्कार की छाप न पड़े तो वह आनन्दमय हो जाता है, और तभी हम परम शान्ति प्राप्त करते हैं।

चित्त जब किसी ऊँचे लक्ष्य पर लग जाता है तो उसे बाहरी संसार या इन्द्रियों से होनेवाले व्यापार का जरा भी अनुभव नहीं होता। जैसे —

एक प्रेमिका अपने प्रियतम से मिलने चली जा रही थी, बड़े वेग से आंधी की तरह। रास्ते में कोई आदमी नमाज पढ़ रहा था। लेकिन उस बावली का ध्यान कहां? वह मसल्ला को कुचलती हुई चली गई। जब वापस लौटी तो वह नमाजी बिगड़कर कहने लगा—" अन्धी है क्या, मैं नमाज पढ़ रहा था तू मेरे मसल्ले पर पांव रखती हुई चली गई।" वह हंस पड़ी। बोली—"अरे तुम क्या खाक इबादत (उपासना) करते हो। जब तुम्हें पता था कि कौन इधर से गुजर रहा है, किसका पांव पड़ा। मुझे तो होश नहीं था कि दुनिया किधर है। मेरी नजर में तो उस समय मेरा प्रियतम ही था।"

अब यह देखना है कि बहिर्मुखी वृत्ति के अन्तर्मुखी हो जाने पर मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त पर क्या प्रभाव पड़ता है।

जब सर्वव्यापक चेतन (ईश्वर) अपने ऐश्वर्य का विस्तार करने के कारण से किसी देह–विशेष में प्रकट होता है तब उसे जीवात्मा कहते हैं। प्रश्न हो सकता है कि वह तो स्वयं ही अपने आप में पूर्ण है, फिर ऐश्वर्य विस्तार की इच्छा क्या करता है? यह तो वही मजाक कर डाली, जैसे कोई सूरज को दीपक दिखाये। आखिर ऐसा क्यों होता है ?

इसलिये कि कार्य से ही कारण का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे आंख से सूर्य का अर्थात् सूर्य को सूर्य का अनुभव नहीं हो सकता। उसे तो अनुभव करने के लिये दूसरी वस्तुकी आवश्यकता होती है जोकि उसी का कार्य है, और वह है आंख। बिना कारण व शक्ति के कार्य में कोई भी गति नहीं होती, जैसे कि आंख बिना प्रकाश के कुछ भी नहीं देख सकती। इससे सिद्ध हुआ कि आंख सूर्य का ही कार्य है। और उसकी शक्ति के बिना वह किसी चीज का अनुभव नहीं कर सकती। इसी प्रकार आनन्द को आनन्द की अनुभूति हो ही नहीं सकती। जबतक कि उसे कोई दूसरा अनुभव करनेवाला न हो अर्थात् एक आनन्दघन है तो दूसरे के पास आनन्द अनुभव करने की शक्ति जो आनन्दघनसे ही प्राप्त होती है।

देह की उपाधि के कारण आत्मा के ज्ञान को जड शरीर में उत्पन्न हुआ ज्ञान ढक लेता है जो वास्तव में अज्ञान है। इसी प्रकार जैसे सूर्य से पैदा हुए बादल से हमारी चक्षु बुद्धि के कारण, सूर्य ढका हुआ मालूम पडता है। परन्तु वास्तव में वह हमारी सीमित चक्षु ज्ञान को ढकता है न कि सूर्य को। इस प्रकार अल्पता के कारण यह ज्ञान अज्ञान ही है। चूंकि जीवात्मा की स्थिति चेतन और जड के मिश्रण से है इसलिये चेतन के ज्ञान को जड में उत्पन्न हुआ ज्ञान, जो वास्तवमें अज्ञान है, आवृत कर लेता है। अपने को देह मानकर उसके धर्म को ही अपना धर्म मान लेता है। बचपन में अपने को बच्चा, यौवन में युवक, बुढापे में बुड्ढा समझता है। दुःख आने पर समझता है कि मैं दुःखी हूँ, रोग आने पर समझता है रोगी हूँ, सुख में सुखी और सुखी से सुख होता है। जन्मदिवस को अपना जन्म-दिन मान जन्मोत्सव मनाता है, तो मृत्यु के समय अपना नाश समझकर शोक करता है। सुख देनेवाले को मित्र और दुःख देनेवाले को शत्रु मानकर घृणा, क्रोध, राग, द्वेष, मोह तथा मद में डूबा रहता है। इतनी दुर्दशा होनेपर भी आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा करता ही रहता है। जिसके लिए वह देह-पिञ्जर में फँसा और बराबर प्रयत्न करता आया, हर हालत में हर समय में बनी ही रहती है। अर्थात् वह दुःख, शोक, मृत्यु आदि अप्रिय वस्तु नहीं चाहता। चाहता है सदा आनन्द शान्ति, केवल शान्ति। यही कारण है कि शान्ति के अभाव में बिना आनन्द पाये हुए जीवात्मा सुख, दुःख, जन्म,मृत्यु की दुविधा में पड़कर निरन्तर भटकता, घूमता, चकराता रहता है।

शुद्ध आत्मा की इस भ्रान्ति का कारण, इस तरह भटकन की वजह, अविद्या, अज्ञान या माया है। माया के फेर में पड़ा हुआ आत्मा जीवात्मा कहलाता है। मूलतः

दोनो में कोई भेद नही है, कुछ फर्क है तो सिर्फ इतना कि, जो चेतन सर्व व्यापक है, देह रूपी सीमा में बंध गया है। असल में है दोनों एक ही। देह का बन्धन टूटा कि वही चेतन सर्वव्यापक चेतन। जैसे आकाश सर्व व्यापक है किन्तु वही जब घड़े के घेरे में आ जाता है तब घटाकाश कहलाता है। घडा टूटा कि फिर आकाश का आकाश।

जीवात्मा के तीन शरीर माने गये हैं—१—कारण २—सूक्ष्म, ३—स्थूल।

अविद्या—युक्त चेतनका नाम कारण शरीर है। वह वासना के कारण जब मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त आदिके घेरेमें आ जाता है, तो उस अवस्था में वह सूक्ष्म शरीरवाला कहलाता है। सूक्ष्म शरीर का जब किसी प्रकार का आकार प्राप्त हो जाता है, तो वही स्थूल शरीर के नाम से पुकारा जाता है। स्थूल शरीर, इच्छा-पूर्ति अथवा कर्म-फल भोगने के लिये होता है। स्थूल शरीर प्राय सब जीवात्माओं का प्रत्यक्ष होता है, यानी आंख से दिखायी देनेवाला होता है। अलावा इसके सूक्ष्म और कारण शरीर दोनों देखे नहीं जा सकते, क्योकि वे वासना से बने होते है और वासना का कोई रंग रूप, आकार, प्रकार नहीं है।

समय आने पर जब किसी जीव का स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, यानी मृत्यु हो जाती है तो उस समय भी सूक्ष्म शरीर बना ही रहता है। इसका कारण ? यही कि एक मूल इच्छा के अलावा उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए, स्थूल शरीर के रहते हुए जब जब जिस जिस प्रकारकी इच्छाएँ पैदा होती हैं, उनमें से कुछ तो पूर्ण हो जाती है और कुछ अपूर्ण ही रह जाती है। अपूर्ण इच्छा का नाम ही वासना है। अन्त में की जड वासना ही है जोकि भावी शरीर का कारण बन जाती है। कारण से कार्य और कार्य से कारण उपजता रहता है। उदाहरणार्थ जैसे —

आपने देखा होगा बरसात के दिनों में कच्ची धरती पर बिना बोए ही चौराई उग आती है। क्या आपने सोचा कभी कि बीज वहाँ से आता है ? नहीं ? सुनिये—चौराई के पक जाने पर हवा के कारण उसके अनेक बीज आस पास इधर उधर बल्कि दूर दूर तक बिखर जाते हैं। क्वार कार्तिक में चौराई सूख जाती है। यहाँ तक कि अगहन पूस में उसके पौधे भी जला दिये जाते है। तथापि चौराई समाप्त नहीं हुयी। जैसे ही सावन भादो की झडी लगी कि, चौराई फिर से लहराने लगती है। आखिर क्या ? इसलिये कि उसका पौधा जरूर जल गया मगर मूल नष्ट नहीं हुआ। डालियाँ अवश्य राख में मिल गयी किन्तु जड जमी हुई है। कहने का मतलब यह है कि जबतक धरती के गर्भ में कही न कही जाने अनजाने रूप में छोटा बडा कोई बीज, कोई मूलाश रहेगा, तबतक हजार चौराई को उखाड फेंको, लाख धूल में मिला डालो किन्तु सफलता नहीं मिलेगी। चौराई जैसे उपजती आई है उपजती ही रहेगी। इसी प्रकार जीवात्मा बार बार आयेगा, जायेगा, सुख भोगेगा, दुःख उठायेगा, जन्मेगा मरेगा। चक्र बराबर चलता ही रहेगा, न कभी आदि होगा न कभी अन्त।

प्रश्न हो सकता है कि जब भटकता हुआ जीवात्मा निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, बराबर कोशिश में लगा रहता है, फिर भी उसे सफलता क्यों नहीं मिलती ? उसकी इच्छा क्यों नहीं पूरी होती ? वह अपने लक्ष्य तक क्यों नहीं पहुँच पाता ? उसे अखण्ड आनन्द, पूर्ण शान्ति क्यों नहीं मिलती ? क्या वास्तव में आनन्द का कोई अस्तित्व नहीं ? कल्पना मात्र है ? वह सिर्फ सपना ?

नहीं, ऐसा नहीं। आनन्द है निश्चित रूप से, किन्तु प्राप्त इसलिये नहीं होता कि वह जीवात्मा, जो कि अज्ञान से आवृत है, माया से विमोहित है, अविद्या से ढँका हुआ है, केवल स्थूल इन्द्रियों द्वारा भौतिक जगत में ही आनन्द को ढूँढता रहता है जो कि प्रत्यक्ष है। सामने की चीज को छोड़कर कोई दूर जाये भी तो कैसे ? अरे भाई हम जिस रूप में जिस समय जहाँ मौजूद हैं, जितनी हमारी सीमा है, हम उसी के अन्दर, उसी के अनुसार, उसी हद तक तो हाथ पैर पटक सकेंगे। उतनी ही तो कोशिश कर सकेंगे। आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ स्वभावत बाहरी विषय भोगों की ओर दौड़ती रहती हैं। इन्द्रियों की बागडोर मन के हाथ है। मन को (इन्द्रियों द्वारा) जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, वह उसी पर सकल्प विकल्प करता है। बुद्धि उसी को समझकर निश्चय करती है, निर्णय देती है। उसी का होता है अहंकार। और चित्त अनुभव करता है उसी का सुख दुख। इस प्रकार जो वासना रह जाती है, उसी की पड़ती है चित्त पर छाप। यानी उसी के अनुसार एक नया संस्कार बन जाता है। या यों कह सकते हैं कि भावी शरीर का कारण बन जाता है।

चूँकि इन्द्रियों के भाग-दौड़ सिर्फ भौतिक जगत तक ही है, मेढक के समान उन की पहुँच कुएँ तक ही है। इसलिये मन आनन्द चाहते हुए भी सिर्फ सासारिक, क्षणिक अस्थायी सुख दुख ही प्राप्त कर पाता है। हालाकि वह बराबर कोशिश करता है पूरी शक्ति लगाता है, यानी आनन्द यहाँ नहीं तो वहाँ मिलेगा, इसमें नहीं तो उसमें मिलेगा, आज नहीं तो कल प्राप्त होगा। इस प्रकार मृगतृष्णा में पड़कर, छलना को सत्य समझ-कर वह स्वय भी चचल रहता है और चित्त को भी चलायमान बनाये रखता है। यही कारण है कि आनद होने पर भी चित्त पर उसका प्रतिबिम्ब स्पष्ट तथा स्थायी नहीं पड़ पाता। जैसे हिलते हुए जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब भी छिन्न-भिन्न सा ही दिखाई देता है। जब कभी इच्छा-विशेष की पूर्ति होने पर क्षणमात्र को चित्त स्थिर हो जाता है और वह आनन्द का अनुभव करता है, तभी बुद्धि समझती है कि विषय भोग में ही आनन्द प्राप्त हुआ। जैसे हड्डी चबाने वाला कुत्ता यही समझता है कि हड्डी में बड़ा रस आ रहा है, उस मूर्ख को यह पता नहीं कि यह अपने ही खून का स्वाद है। इस प्रकार जीवात्मा रेशम के कीड़े के समान वासना के तन्तुओं से अपने आपको निरन्तर जकड़ता ही चला जाता है।

कोशकृमि स्तन्तुभिरात्म देहमावेष्ट्य चावेष्ट्य च गुप्तिमिच्छन् ।
स्वयं विनिर्गन्तुमशक्त एव ससुततस्तदन्ते म्रियते च लग्नः ।।
यथा तथा पुत्र कलत्र मित्र-स्नेहानुबन्धं ग्रथितो गृहस्थः ।
कदापि वा तान्परिमुच्य गेहाद्गन्तु न शक्तो म्रियते मुधैव ।।

जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपनी स्वरक्षा के हेतु अपने चारों तरफ तन्तुओं को लपेटता रहता है। यहाँ तक कि वह अपने निकलने के रास्ते को भी बन्द कर देता है और फिर अन्त में मर जाता है। उसी प्रकार यह संसारी मनुष्य अपने सुख के लिये पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु, इत्यादि के जंजाल में फंसकर आसक्ति के कारण उसमें से निकल नहीं पाता। अन्ततोगत्वा अपना प्राण त्याग कर देता है।

बाहरी विषय भोगों के ही भ्रम में पड़कर इन्द्रियों द्वारा भौतिक जगत में आनन्द प्राप्त करने की कोशिश करते रहना जबकि वास्तव में आनन्द तो भीतर है। बाहर कहीं नहीं। संक्षेप में इसी का नाम बहिर्मुखी वृत्ति है।

जब जीवात्मा की तरह तरह के रास्ते अपनाकर भाँति भाँति की योजनायें बनाकर लगातार प्रयत्न करते रहने पर भी कहीं भी, कभी भी इच्छा पूरी नहीं होती उसको शान्ति नहीं मिलती, अखण्ड आनन्द प्राप्त नहीं होता, तब हारा, थका, दुःखी, निराश होकर, सोचता है कि आखिर आनन्द है तो कहाँ है ? उस दशा में घबड़ाकर, अकुलाकर, अत्यन्त व्याकुल होकर, सर्व शक्तिमान परमेश्वर को पुकारता है। करुणा भरे शब्दों में– प्रेमपूर्वक प्रार्थना करता है कि, हे करुणाकर ! दीनदयालु ! अन्तर्यामी प्रभो ! मुझे शान्ति चाहिये, आनन्द चाहिये, तेरी कृपा चाहिये। उस समय प्रभु करुणावश कृपा करके उसकी बुद्धि को प्रेरित करते हैं। वह जिज्ञासु बनकर सद्‌गुरु की शरण में जाता है। आर्तभाव से गुरु की प्रार्थना करता है कि भगवन्! आपके सिवाय अब मेरा कोई नहीं है। हे प्रकाश पुन्ज ! मुझ अन्धकार में ठोकर खाते हुये, दुखी, अशान्त प्राणी को मार्ग दिखाइये। ऐसा मार्ग जो सीधा आनन्द धाम तक पहुँचता हो।

उसकी लगन, जिज्ञासा और शरणागति गुरु की प्रसन्नता का कारण बनती है। उनके हृदय में जो अमृत का सागर है, वह वचन रूपी बादल बन कर बरसने लगता है। वे समझाते हैं –' बेटा यह (आनन्द स्वरूप आत्मा) इन्द्रियों का विषय नहीं है। अर्थात् न आँख उस रूप या देखने में समर्थ है,न कान उस वाणी को सुनने की क्षमता रखते हैं, न नाक से उसकी गन्ध ली जा सकती है, न जीभ से रस, त्वचा से छूआ भी नहीं जा सकता।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः ।।
(केनोपनिषद)

वह अणु से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है ।

अणोरणीयान् महतो महीयान् ।

(कठोपनिषद)

यह मन जो इन्द्रियों का नियामक है, तुम्हारी बुद्धि को केवल विषय भोगों में ही भरमाये रखता है। यह दुष्ट उसे मौका ही नहीं देता। क्षण भर स्थिर होकर सोचने त कि, विषय भोगों में आनन्द है या नहीं। बेटा बड़े हर्ष की बात है कि तुम्हारी बुद्धि ने यह निश्चय कर लिया है, तुम यह अच्छी तरह समझ गये हो कि आनन्द या शान्ति विषय-भोगों में नहीं है। अब तुम्हारा कर्तव्य है कि बुद्धि को बाहरी विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी वृत्ति द्वारा निश्चयात्मक बनाओ। तुम यह निश्चय कर लो कि, यह आनन्द कहीं और नहीं, बाहर या इधर उधर नहीं मुझमें ही है, मैं स्वयं आनन्द रूप हूँ। जिस समय बुद्धि निश्चयात्मक हो जाती है, आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, अखण्ड आनन्द प्राप्त हो जाता है, तो मन के संकल्प विकल्प जो रहते हैं, वह एक दम शान्त हो जाता है। जब तक तुम्हारी बुद्धि निश्चयात्मक न बन जायेगी, आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होगा, तुम अखण्ड आनन्द या पूर्णशान्ति कभी न प्राप्त कर सकोगे। क्योंकि यह चचल मन जब भी मौका मिलेगा, फिर चाहे आधे क्षण का ही क्यों न मिले तुम्हें भटकाने की ही कोशिश करेगा।

इस प्रकार गुरु के उपदेशामृत से सूखी धरती हरी हो उठती है। उसके हृदय में नई आशा का संचार होता है। वह उनकी आज्ञानुसार साधना करने में जुट जाता है। धीरे धीरे उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती है। जिस आनंद के लिए वह बाहर भटक रहा था उसे अपने भीतर ही पाने लगता है। भीतर ही नहीं बल्कि बाहर भीतर सब जगह सब कार्य करता हुआ भी शान्तिजन्य अखण्डानन्दामृत का पान करता रहता है।

जिसकी अन्तःकरण की वृत्ति बाहर की ओर लगी हुयी है, तथा जिसकी भीतर की ओर लगी हुयी है, उन दोनों में क्या अन्तर हो जाता है? किस प्रकार एक अशान्ति तथा दूसरा शान्ति का अनुभव करता है? यह नीचे दिये गये दृष्टान्त से अच्छी तरह समझ में आ जायेगा।

एक समय ऐसा आता है कि इन्द्र से लड़ कर वृत्रासुर हार जाता है। फिर भी उसे कोई दुःख नहीं होता। जैसे किसी समय तीन लोक जीत लेने पर भी कोई सुख नहीं हुआ था। इस पर भी, कामी इन्द्र विष्णु की सहायता लेकर उसे मारने की योजना बनाता है। भगवान यह जानकर कि, वृत्र मेरा भक्त तथा ज्ञानी एवं इन्द्र विषयासक्त अज्ञानी है — भक्त का कल्याण तथा इन्द्र की इच्छा पूरी करने के लिये सफलता का उपाय बतला देते हैं।

युद्ध छिड़ता है। इधर ऋषि दधीचि की हड्डियों से बना हुआ अमोघ वज्र लेकर देव सेना सहित इन्द्र बड़े गर्व से वृत्र को ललकारता है। उधर—ज्ञानी होनेके नाते वृत्रा-

सुर वज्र द्वारा अपने नाश होने की निश्चित बात जान कर भी घबराता नहीं, बल्कि इसे भक्तवत्सल, परम दयालु भगवान की अपने ऊपर कृपा ही समझता है। वह शान्त चित्त, युद्ध तथा हार जीत में किसी प्रकार का लगाव न रखते हुए भी सर्वथा निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म करने के लिये इन्द्र के मुकाबिले मैदान में डट जाता है।

उसके पास वज्र का बल है तो इसके पास आत्मा का। इन्द्र को फिर भी शंका है कि, कहीं ऐसा न हो कि मैं दानव से हार जाऊँ—क्योंकि वह विषयासक्त है। किन्तु वृत्र निष्कामी होने के कारण जय पराजय, जन्म मृत्यु आदि से सर्वथा मुक्त है। निर्भय है।

इन्द्र वज्र उठा कर जैसे ही कुछ आगे बढ़ता है, वृत्र तान कर एक गदा मारता है, जिससे ऐरावत हाथी रक्त-वमन करता हुआ चिंघाड मार कर कई हाथ पीछे हट जाता है। इन्द्र थोड़ी देर को होश हवास खो बैठता है।

तब आनन्द-समुद्र में गोते लगाता हुआ वृत्र हँसकर कहता है—"इन्द्र, घबराओ नहीं आगे बढ़ो, मुझे मारो, शंका छोड़ो, यह अमोघ वज्र खाली नहीं जायगा। हे देव-राज, मुझ अकिंचन पर उस परम करुणामय प्रभु की कृपा है, तभी तो उन्होंने मेरे उस ऐश्वर्य को छीन लिया जोकि राग-द्वेष, उद्वेग-आवेग, आधि-व्याधि, मद-मोह, अभिमान-क्षोभ, व्यसन-विषाद, परिश्रम-क्लेश, आदि की जड़ है और तुम्हें वज्र देकर मेरा वध करने के लिये भेजा है, ताकि शरीर बंधन से भी मुझे छुटकारा मिल जाय। परन्तु, इन्द्र, तुम्हारा अभाग्य है, तुम पर प्रभु की कृपा नहीं है इसीसे अर्थ, धर्म, काम के प्रयत्न में तुम लगे हो—जोकि नाशवान हैं।" वृत्र हाथोंसे शस्त्र चला रहा है किन्तु मन ही मन शान्त, शिव, आनन्दरूप भगवान की स्तुति में तल्लीन है।

"हे मेरे समर्थ स्वामी, मुझे स्वर्ग ब्रह्मा का पद, सार्वभौम राज्य, पाताल का स्वामित्व, योगसिद्धि और मोक्ष भी नहीं चाहिये। मैं तो चाहता हूँ— पक्षियों के जिन बच्चों के अभी पंख न निकले हों — वे जैसे चुगा लाने गयी हुई अपनी माता के आने की उत्सुक प्रतीक्षा करता है, जैसे रस्सी से बँधे भूख से व्याकुल छोटे बछड़े अपनी माता गौ का स्तन पीने के लिये उतावले रहते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने दूर देश गये पति का दर्शन पाने को उत्कंठित रहती है, वैसे ही आपके दर्शन के लिये मेरे प्राण व्याकुल रहें। इस संसार चक्र में मैं अपने कर्मों से जहाँ भी जाऊँ वहीं आपके भक्तों से मेरी मित्रता हो। आपकी माया से यह जो देह गेह स्त्री-पुत्र में आसक्ति है, वह मेरे चित्त का स्पर्श न करे।"

असुरराज के मुख से ऐसी देव-दुर्लभ वाणी सुनकर इन्द्र धरती में गड़ जाता है, लज्जित हो जाता है। वज्र द्वारा फिर प्रहार करता है। वृत्र की दाहिनी भुजा कट जाती है। वृत्र परिघ मारता है—ऐसा कि इन्द्र के हाथ से वज्र छूट गिरता है। वृत्र फिर कहता है हँसकर—"इन्द्र, यह समय खेद का नहीं घबराओ नहीं वज्र उठालो,

और होशियारी से प्रहार करो। जय-पराजय की चिन्ता छोड़ो। जो लोग नहीं जानते कि ईश्वर के अनुग्रह बिना प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पंचभूत, इन्द्रियाँ, मन आदि कुछ नहीं कर सकते। वे लोग ही अज्ञानवश पराधीन देह को स्वाधीन मानते हैं। प्राणियों की उत्पत्ति-विनाश काल की प्रेरणा से ही होता है। जैसे बिना चाहे प्रारब्ध काल की प्रेरणा से दुःख, अपयश, दरिद्रता मिलती है, उसी प्रकार भाग्य से ही लक्ष्मी, आयु, यश और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। जब ऐसी बात है तब यश-अपयश, जय पराजय, सुख-दुःख, जीवन-मरण के लिये कोई क्यों हर्ष विषाद करे? सुख-दुःख तो गुणों के कार्य हैं और सत्व, रज, तम-ये तीनों गुण प्रकृति के हैं, आत्मा के नहीं। जो अपने को तीनों गुणों का साक्षी आत्मा जानता है, वह सुख-दुःख से लिप्त नहीं होता।

दोनों में खूब डटकर युद्ध होता है। इन्द्र सिर्फ लड़ रहा है, जबकि वृत्र अन्तर्मुख होकर सब जगह आनन्द ही आनन्द का अनुभव कर रहा है, इस पर भी विशेषता यह है कि, अपना कर्त्तव्य (युद्ध) बराबर किये जा रहा है। यानी कर्म से जरा भी विमुख नहीं है। यही ज्ञानी भक्त की, विशेषता भी है कि संसार में रह कर सब कर्त्तव्य कर्म करते हुए भी उनमें वह लिप्यायमान नहीं होता। बल्कि अपने रूप (सच्चिदानन्द) में स्थित होने के कारण हर समय, हर हालत में एक मात्र शान्ति का ही अनुभव करता रहता है। यही अवस्था है, असुरराज वृत्र की।

अन्त में वृत्र मुख फैलाकर ऐरावत समेत इन्द्र को निगल जाता है। इन्द्र नारायण कवच के प्रभाव से वज्र द्वारा असुर का पेट फाड़कर बाहर निकल आता है तथा उसी वज्र से वृत्र का सिर काट डालता है। वृत्र में से एक ज्योति निकलती है जो ज्योति में लीन हो जाती है।

अब हमारे सामने दो चित्र स्पष्ट हैं। पहला चित्र सुरपति इन्द्र का। इन्द्र,-साधो के भंडार स्वर्ग का स्वामी, माया में मस्त, विषयों में आसक्त काम-कामी है। वह इतनी लौकिक सुख की सामग्री उपस्थित होते हुए भी आनंदित नहीं शान्त नहीं। उसे चिन्ता है, शंका है, भय है लगता है कि कभी कोई तपस्या करके स्वर्ग छीन न ले, मुझे इन्द्रासन से न उतर जाना पड़े, मेरा भोग भंडार न लुट जाये। यही कारण है कि वह कभी नारद के उग्र तप को अपने ऊपर पड़ने वाली विपत्ति समझकर चलायमान हो उठता है तो कभी विश्वामित्र की महान तपस्या उसके सामने महान संकट उपस्थित करके उसे अशान्त बना देती है। मतलब यह कि इतना धन वैभव पाकर भी सुख नींद सोना उसके भाग्य में नहीं। रात दिन कोई न कोई खटका लगा ही रहता है। इसका मूल कारण है वही बहिर्मुखी वृत्ति यानी बाहरी विषय भोगों में लगा हुआ उसका मन।

दूसरा चित्र है-असुर राज वृत्रासुर का। वृत्र असुर है दैत्य है, जिसे देवता सदा शत्रु मानते आये हैं फिर भी उसके ऊँचे संस्कार हैं। वह माया से परे विरक्ति हुए,वासना-

अर्थ मुक्त, धर्मात्मा, कर्मयोगी परम भक्त एवं महान ज्ञानी है। जिसे तीन लोक का राज्य भोगने पर न कोई सुख, न सर्वस्व छिन जाने पर कोई दुःख है न सफलता पर हर्ष, न विफलता पर शोक न विजय की हँसी, न हार के आँसू, न जन्म की खुशी, न मृत्यु का भय।

सारांश यह निकला कि, अन्तःकरण की वृत्तियों को बाहर से मोड़कर सिर्फ भीतर की ओर ही लगाना है। फिर कोई यह कहे कि इसमें क्या, लगा देंगे मिनटों में, सस्ता दाम सिद्धपुर की यात्रा! यह तो बड़ा ही सीधा रास्ता है, चले और पहुँच गये। न कोई रुकावट न कोई मुश्किल। वृक्ष पर फल लटक रहा है, जरा मुह बाये कि फल मुँह में।

वास्तव में बात ऐसी नहीं है। कह देना जितना सरल है काम करना उतना ही कठिन। उदाहरण के लिए बीड़ी सिगरेट या अन्य किसी की आदत पड़ जाने पर, भले ही कुछ वर्षों की ही क्या न हो, यह जान लेने पर भी कि इससे बड़ा नुकसान होता है, सहसा छोड़ी नहीं जा सकती। तत्काल तो वही छोड़ सकता है जिसे आत्मग्लानि हो जाय और ऐसा कोई विरला ही मिलता है, सब नहीं। जब यह मामूली नशे, वह भी सिर्फ कुछ साल के ही, सहसा छोड़ देना कठिन है, तब जन्मजन्मान्तर में चौरासी लाख योनियों में तथा मनुष्य योनि में जो संस्कार बनते चले आ रहे हैं, जो हमारे स्वभाव में समा गये हैं, जिसके हम आदी हो चुके हैं। इतना ही नहीं जबकि इन्द्रियों का प्रवाह स्वभावतः बाहर की ही ओर है। उन सबको सहसा एक मात्र चुटकी बजाते ही बदल देना, पलट देना, मोड़ देना, कितना कठिन है, कितना असम्भव है कितना दुष्कर है, विचारने की बात है।

आखिर वह कठिन साधना क्या है? बुद्धि ऐसी निश्चयात्मक बनानी, जिससे अखण्ड आनन्द और पूर्णशान्ति प्राप्त हो। यह निश्चयात्मक बुद्धि एक मात्र आत्म-ज्ञान से ही बन सकती है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये पहले भक्ति उससे पहले कर्म, और उससे भी पहले धर्म धारण करना अनिवार्य है।

—oo—

धर्म

ध्रियतेऽसौसः धर्मः—अर्थात् जो धारण किया जाय वही धर्म है।

धार्यतेऽसौधर्म—अर्थात् गुरु शिष्य परम्परा से जो धारण किया गया है वह धर्म है।

यहित कर्म जन्योधर्मः—अर्थात् वेद विहित कर्म से जिसका जन्म है वह धर्म कहलाता है।

यतोऽभ्युदयनिश्रेयस सिद्धिः सधर्मः—अर्थात् जिसके द्वारा लौकिक उन्नति हो और परम कल्याण की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं।

दुनिया का हर प्राणी अपना एक यूथ, एक दल, एक झुंड बनाकर रहता है। उसके कुछ नियम या कायदे होते हैं जिनका पालन करना हर एक सदस्य का कर्तव्य होता है। इसी प्रकार मनुष्य का भी समाज होता है। चूँकि वह संसार का सबसे उत्तम प्राणी है इसलिये उसका समाज भी उतना ही उत्तम होना चाहिये, जिससे समाज का प्रत्येक सदस्य शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक उन्नति करता हुआ अधिक से अधिक सुख शान्ति प्राप्त कर सके। इस जरूरत को ध्यान में रखते हुए काफी अनुभव के बाद कुछ ऐसी बातें खोज निकाली गईं जो धारण की जायँ, जो समान रूप से सबके लिये उपयोगी, हितकारक तथा कल्याणकारी हों, यह महान कार्य किया भिन्न भिन्न देशों में समय समय पर पैदा होने वाले महापुरुषों ने, महात्माओं ने।

भगवान कृष्ण महात्मा बुद्ध महात्मा ईसा, हजरत मोहम्मद आदि ने देश, काल, और परिस्थिति के अनुसार मनुष्य के सामने वही रास्ता रक्खा जो धारण किया जाय तथा जिससे पूर्णरूपेण सुख और शान्ति प्राप्त हो। लोगों पर अच्छी बातों का असर पड़ा, उनकी बातें सुनीं, उन्हें अनुभव हुआ कि उपदेश करने वाला व्यक्ति बहुत बड़ी शक्ति है, हम लोगों से बहुत ऊँचा है, देवता है, भगवान है और नतीजा यह हुआ कि लोगों ने वही रास्ता अपना लिया जो उनके महापुरुषों ने बताया-सुझाया था।

इस प्रकार कुछ आदमी सनातनी, कुछ बौद्ध, कुछ ईसाई तथा कुछ मुसलमान कहलाने लगे। असल में कोई जाति नहीं है और वास्तव में व्यक्तिगत कोई धर्म भी

नही है। बल्कि सब के भीतर मानव मात्र का धर्म अर्थात् मानव धर्म समाया हुआ है। बौद्ध, ईसाई, धर्म आदि तो चलाने वाले के नाम पर बन गये। आज कोई वैज्ञानिक किसी खास चीज का आविष्कार करता है, तो वह उसी के नाम से चल पड़ती है।

आज तो संसार मे जातियों का एक विशाल जाल सा बिछा हुआ है। लेकिन यथार्थ मे बात यह है कि जिसकी, जिस धर्म पर श्रद्धा जम गई उसने वही धर्म कबूल कर लिया और उसका पालन करने लगा। असल में विभिन्न धर्म क्या हैं? यों समझ लीजिये एक ही मंजिल तक पहुँचाने वाले कई रास्ते। किसी ने कहा भी है —

रस्ते अलग अलग हैं, स्थान एक है।
कोटानुकोटी भक्त हैं, भगवान एक है।

राम कहो या रहीम, मंदिर मे जाओ या मसजिद में, ईश्वर को पूजो या ईसा को, बात एक ही है, भाव एक ही है, लक्ष्य एक ही है। क्योंकि सत्य एक है, दो नही।

अक्सर देखने में आता है-आजकल के पढ़े लिखे लोग धर्म के नाम से नाक भौं सिकोड़ते हैं, आखिर क्यों? इसका एक मात्र कारण है-सभी धर्मों में फैल जाने वाला पाखण्ड, ढोंग, ढकोसला, ठग विद्या।

क्या पंडित, क्या पादरी, क्या मौलवी आज अधिकांश धर्माचार्य धर्म की ओट लेकर स्वार्थ सिद्धि करने मे लगे हुए हैं। वे परम धार्मिक बन कर टट्टी की आड में शिकार खेल रहे हैं, उनके लम्बे-लम्बे उपदेश, प्रवचन व्याख्यान केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये होते है। जिन नियमों का पालन करने के लिये लोगों पर जोर देते हैं, उन नियमों को खुद नही पालते। अपने ही धर्म को सबसे ऊँचा सिद्ध करने के लिये बड़े बड़े तर्क, बड़े बड़े शास्त्रार्थ होते हैं, यहाँ तक कि धर्म के नाम पर दुश्मनी, मारपीट, हत्या तथा भयंकर नर संहार तक किये जाते हैं।

लोग दुनिया भर के पाप कर्म करके मंदिर या मसजिद मे जाते है और वहाँ दर्शन करते या नमाज पढ़ते हैं। उनका विश्वास है कि, हम वहाँ जाते ही धर्मिष्ठ हो गये, हमारे पुण्य जाग गये। अथवा कुछ लोग काशी काबा आदि की यात्रा करके यह समझते हैं कि, हमारे सब पाप धुल गए, हमें नये पाप करने का परमिट मिल गया और वे फिर कुकर्म करने लग जाते हैं। क्या सस्ता नुसखा है, हल्दी लगे न फिटकरी रंग चोखा ही आवे। पतितपावनी गंगा तो है ही, बन जाओ पतित, तार ही देगी। बन जाओ गुनहगार, जहाँ आबेजमजम मिला कि तन मन पाक हो जायेंगे।

ये विचार बिलकुल सार हीन है। पापों का प्रायश्चित्त जरूर है लेकिन इतना आसान नहीं। भूल चूक या अनजाने में हमसे कोई पाप-कर्म हो जाये और हम किये पर पश्चाताप कर तथा भविष्य मे फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा कर, यही प्रायश्चित्त का सच्चा अर्थ है।

यह नहीं कि जानबूझ कर पाप कमाते जायें और फिर उनके धोने के लिये देवता, तीर्थ या किसी अनुष्ठान की शरण लें और फिर उन्हीं कर्मों को करने लग जायें। आज बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग भी मिलते हैं जो अपने धर्म के गुण गिना गिना कर दूसरे के धर्म में दाग दिखाने की कोशिश करते हैं। जबकि चाहिये तो यह कि, पहले हम अपने धर्म पर दृष्टि डालें कि उसमें कितना पाखंड घुस गया है कितनी बुराइयाँ आगई हैं, किन्तु ऐसा कौन करे? 'दीपक तले अंधेरा'। जब धर्म और धर्मवालों की यह हालत है, तो भला धर्म के नाम से लोगों को चिढ़ क्यों न हो? वे धर्म के मामले में नास्तिक क्या न हो जायें?

आज आवश्यकता यह है कि पाखंड के परदे का हटा कर, दाव ढकोसलें बाजी का चीर कर, धर्म के असली स्वरूप का दर्शन किया जाय —वह असली स्वरूप जाकि हम ऊपर बता आये हैं— धर्म अर्थात् जो धारण किया जाये। जिससे लौकिक उन्नति हो तथा परम कल्याण की प्राप्ति हो।

बादल को ही आकाश समझ लेना तो बड़ी भारी भूल है। याद रखिये धर्म कोई संकुचित या छोटी मोटी चीज़ नहीं जाकि मूर्ति मंदिर, तीर्थ, अथवा पाठ-पूजा तक ही सीमित रह। उसका क्षेत्र बड़ा व्यापक और विशाल है। धर्म के बिना तो किसी प्रकार गुज़र हो नहीं सकता। कदम कदम पर धर्म की जरूरत है। चाह राष्ट्र धर्म हो चाहे मानव धर्म।

अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर क्या धारण किया जाये? संसार में अनेक धर्म ग्रंथ हैं। जिनमें धर्म के भंडार के भंडार भर पड़े हैं। उन सब में धर्म का वही असली रूप दिखाया गया है, जाकि धारण किया जाये। और जिससे पूर्ण रूपेण सुख शान्ति प्राप्त हो।

महर्षि मनु ने धर्म के दस लक्षण बतलाए हैं जो कि किसी न किसी रूप में विश्व के सभी धर्मों में पाये जाते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध, जैन, सिक्ख चाह कोई आदमी हो, इन्हें धारण करके सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। इसी का नाम है सच्चा मानव धर्म।

> धृति क्षमा दमोऽस्तेय, शौचमिन्द्रियनिग्रह।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात्—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय शौच, इन्द्रिय निग्रह धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोध, ये धर्म के दस लक्षण हैं।

धृति— धारण या पोषण करना अथवा धैर्य। सबसे पहले हमें शरीर का टिकाये रखना जरूरी है। क्योंकि इसी से लौकिक पारलौकिक सभी कार्य किये जाते हैं। 'शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्। हमारा शरीर जितना स्वस्थ, चुस्त ताजा और

बलवान होगा किसी भी कार्य में हम उतनी ही मेहनत कर सकेंगे और हमारी बुद्धि भी उतनी ही ज्यादा तेज होगी। इसलिये शरीर पोषण के लिये शुद्ध अन्न होना जरूरी है। शुद्ध अहार दो प्रकार से होता है। १ न्याय पूर्वक उपार्जन किया हुआ। २ सात्विक हो, ताजा हो, सडा गला बासी न हो एव साफ किया गया हो। आहार उचित मात्रा में ही प्रसन्न चित्त होकर लेना चाहिए। क्योंकि अधिक आहार आलस्य एव अनेक रोग उत्पन्न करता है तथा कम आहार शिथिलता लाता है। जैसा हम अन्न खायेंगे वैसा ही हमारा मन होगा, अर्थात् वैसे ही हमारे विचार होंगे। शुद्ध अन्न खायेंगे तो हमारे विचार भी शुद्ध अर्थात् अच्छे होंगे, अच्छे विचार होंगे तो अच्छे समाज मे बैठेंगे और अच्छे कार्य करते हुए अपने जीवन को सफल-सार्थक बना सकेंगे।

यह तो बात हुई शरीर के धारण-पोषण की। धैर्य क्या चीज है ? अब यह भी समझ लीजिये। बडी से बडी विपत्ति, बाधा, अडचन या रुकावट आने पर भी अपनी जगह से डिगे नही, शुरू किये हुए कार्य को छोडे नही, इसी का नाम धैर्य धारण करना है। आपत्ति तीन तरह की होती है।

अधिभौतिक–भूतो द्वारा अर्थात् दुश्मन, शेर, सर्प आदि से आनेवाली विपत्ति।

आधिदैविक–भूकम्प, तूफान, बाढ, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि।

आध्यात्मिक–मानसिक पतन, अर्थात् नीच विचारो द्वारा हमारा पतन हो जाना।

मनुष्य शरीर को रोगो का घर कहा गया है। कौन सी बीमारी किस समय, किस तरह आ दबाये, कुछ ठिकाना नही, इसलिये धीरज धारण करते हुए हमें उस बीमारी का डट कर मुकाबिला करना चाहिये। चिन्ता नही उपाय करना चाहिये। अगर बीमारी है तो उसका इलाज भी है। बीमारिया के अलावा प्राकृतिक कोप भी जब तब होते रहते हैं जैसे बडे–बडे भूकम्प और तूफान आते है, बाढ आती हैं, कभी एक बूंद पानी नही बरसता तो कभी इस कदर बरसता है कि मकान और फसल बरबाद हो जाते हैं। प्लेग हैजा या मोतीझरा जैसी बीमारियाँ फैलती है, एक एक दिन म सैकडा आदमी मौत के मुंह में चले जाते हैं।

कहने का मतलब यह कि ऐसी परिस्थिति म भी आदमी को घबराना नही चाहिये। बल्कि हँसत हँसते उस सकट का सामना करना चाहिये, और मगल कामना करनी चाहिये कि अच्छे दिन न रहे तो बुरे दिन भी नही रहेगे। बसना, उजडना जीना–मरना आदि प्रकृति के नियम ही है। इतना ही नही जब मनुष्य ऊँचा लक्ष्य लेकर उपर उठने की कोशिश करता है तब अनेक प्रकार के विघ्न बाधाएँ उसकी साधना में रुकावट डालती है तो जिससे ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि उसके विचार अशुद्ध और गदे

झोंककर उसे नीचे गिरा देते हैं। फिर भी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह धीरज न खोवे बल्कि अपने कार्य में जुटा ही रहे। इस प्रकार एक न एक दिन मंजिल तक पहुँच ही जायगा।

विश्वामित्र की तपस्या में अनेकों विघ्न बाधायें आयी जिससे उनका पतन हुआ फिर भी उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा। फिर तपस्या में डट गए। आखिर ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त करके ही छोड़ा।

क्षमा—सामर्थ्य होते हुए भी किसी के अपकार का प्रतिकार न करना। जैसे हमारे साथ कोई किसी प्रकार की बुराई या बदी करे लेकिन हम बदला लेने की शक्ति रखते हुए भी उसे छोड़ दें, इसी का नाम क्षमा है। इससे हमारे प्रति उसके दिल में जगह होगी, वह अपने आप अपने किये पर पछतायेगा तथा धीरे-धीरे उसकी बुराई खत्म हो जायगी, यानी जो द्वेष की आग है वह ठंडी पड़ जायगी। अगर विपरीत इसके हम उससे बदला लेंगे तो उसके दिल में द्वेष की आग और भड़केगी और वह इसी तलाश में रहेगा कि, कब मौका मिले और मैं इसका बुरा करूँ।

इस प्रकार घात प्रतिघात चलते ही रहेंगे। हमारा जीवन बड़ा दुखी और अशान्त हो जायगा। इसलिये आपस में प्रेम भाव बना रहे इसके अर्थ क्षमा धारण *करना जरूरी है। और क्षमा हम तभी कर सकते हैं जबकि हममें शक्ति और सामर्थ्य* हो।

दम— कर्मेन्द्रियों का दमन करना यथा कर्मेन्द्रिया से कोई बुरा काम न करना दम कहलाता है। जैसे कोई भी बुरा विचार उठे अगर हमने अपनी कर्मेन्द्रिया पर काबू कर रक्खा है तो हमसे कोई बुरा काम होगा ही नहीं और इस प्रकार वह बुरा विचार नष्ट हो जायगा। जैसे किसी संत ने कहा है —

मन जाये तो जान दे दृढ़ कर राख शरीर।
ज्यो जल में छाया पड़े, परसत नाहिन नीर।।

अस्तेय— चोरी न करना। पराई चीज उसके मालिक को जताये बिना या उसकी अनुमति लिये बिना हथिया लेने का नाम चोरी है। किसी का अधिकार (हक) दबा लेना, या हिसाब किताब में किसी के साथ गड़बड़ करना अथवा नाप-तोल में किसी को कम देना भी चोरी ही है। शास्त्रों में कहा गया है कि, वे चोर हैं तथा दंड के *भागी हैं जो अपनी जरूरत से ज्यादा संग्रह करके दूसरों को उन जरूरी चीजों के लिये* तरसाते-तड़पाते हैं।

यावद्भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वहिदेहिनाम्।
अधिक्योभिमन्येत स स्तेनोदण्डमर्हति।।

जितने से मनुष्य का पेट भरता है उतने पर ही उसका अधिकार है। उससे अधिक का जो अभिमान करता है वह चोर है और दंड का भागी है।

जिस समय बंगाल मे अकाल पड़ा था ऐसा ही हुआ। एक तरफ मुट्ठी भर चावल के बिना बालक, युवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष तड़प तड़प कर प्राण देते रहे, उनके ओठ सूख गये, अंतड़ियाँ बाहर निकल आईं, पेट पीठ से लग गया; और दूसरी तरफ कुछ पूंजीपति, गल्ले के व्यापारी, नर राक्षस चावलों के गोदाम के गोदाम छिपा कर, मनमाना लाभ उठाते हुए अपने ही द्वारा फैलाई हुई महामृत्यु का, तमाशा देख देख कर मुस्कराते रहे। उनके यहाँ सुगंधी चावल और रसगुल्लों की दावतें चल रही थी जबकि दूसरी तरफ भूख से मरता हुआ इंसान प्राण रक्षा के लिये उल्टियाँ चाट रहा था। राक्षस के भी रोंगटे खड़े हो जायें,ऐसा करुण दृश्य था। इतिहास साक्षी है, इससे बढ़ कर और चोरी क्या हो सकती है ? इसलिये अस्तेय धारण करना बहुत जरूरी है।

शौच– पवित्रता, बाहर और भीतर की शुद्धता। अर्थात् हमारा शरीर शुद्ध हो, हमारे वस्त्र शुद्ध हो, हम जहाँ उठते बैठते है वह स्थान शुद्ध हो और इसमे भी अधिक जरूरी है मन की शुद्धता अर्थात् हमारे विचार पवित्र हों। अगर हमारे मन मे मैल है (छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष) आदि है तो चाहे हम हजार उजले कपडे पहनें, लाख तीर्थों में जायें,लेकिन उससे कोई लाभ नही। मैले कपडे पर कही रंग चढ सकता है ? पहले उसे साफ करना होगा तभी रँगरेज को देना ठीक है, अन्यथा रंग का दुरुपयोग होगा। कहावत भी है– मन चंगा तो कठौती में गंगा। मतलब यह कि जैसे शरीर साफ रखने के लिये स्नान करना, वस्त्र उजले रखने के लिये साबुन लगाना जरूरी है, वैसे ही मन की शुद्धता के लिये सद्ग्रन्थो का अध्ययन अर्थात् अच्छी किताबे पढना, अच्छी संगत में बैठना, अच्छा विचार रखना जरूरी है। आज संसार मे अशान्ति इसीलिये बढती जा रही है कि, आज का समाज बाहरी टीप-टाप ही ज्यादा पसद करता है। जिस आदमी के पल्ले चार पैसे, तड़क भड़कदार कपडे और गहने गाँठे हैं वही आदर-सम्मान पाता है। भले ही उसके विचार कैसे भी हो, कर्म कैसे भी हो।

आज के युवक युवतियाँ बनाव-सिंगार मे अपने जीवन का बहुत सा कीमती समय तथा हजारो रुपये व्यर्थ पानी की तरह बहा देते हैं परन्तु मन की शुद्धता पर थोडा सा समय लगाना भी वे पाप समझते हैं। क्योंकि उन के लिये मन की शुद्धता का कुछ महत्त्व ही नही। वे नही जानते कि हमारे जीवन की सफलता का सारा आधार यह बाहरी टीप-टाप या दिखावा नही, बल्कि शुद्ध मन, ऊँचे विचार है।

इन्द्रिय निग्रह–ज्ञानेन्द्रियों को रोकना।

ज्ञानेन्द्रियो का काम भिन्न भिन्न वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त करना है। अगर हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो का अच्छी चीजो की तरफ लगाते हैं, तो हमारे विचार भी अच्छे होते हैं। अगर हम उन्हें बुरी चीजो की तरफ लगाते है, तो हमारे विचार भी बुरे हो जाते हैं। जैसे शास्त्रमें कहा गया है-पराई स्त्री माता के समान होती है। हम चले जा रहे हैं, रास्ते में कोई स्त्री मिल जाती है। अगर हमनें इन्द्रिय निग्रह कर रक्खा है तब तो हमारी आँख

उभर आयगी ही नहीं। अगर हमने इन्द्रियों को खुला छोड़ रक्खा है तो उनकी चमक दमक हमारी आँख को अपनी तरफ खींच लेगी। इस प्रकार वासना का जन्म होगा और हममें बुरे विचार पैदा हो जायेंगे, जोकि हमारी कर्मेन्द्रियों को उकसायेंगे यानी पाँवों से कहेंगे –" आगे बढ़ो पीछा करो।" फल यह होगा कि हम पाप कर्म करने में प्रवृत हो जायेंगे। इसलिये इन्द्रिय-निग्रह बहुत ही जरूरी है। इसी को सयम कहते हैं।

धी–अर्थात बुद्धि।

बुद्धि के बारे में (मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त) के प्रसग में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यहाँ पर इतना ही सकेत काफ़ी होगा कि बुद्धि स्थिर, शुद्ध तथा निश्चयात्मक होनी चाहिये। क्योंकि हमारे जीवन और उसके महान लक्ष्य (अखंड आनंद) या पूर्ण-शान्ति का सारा दारमदार बुद्धि पर ही निर्भर है। बुद्धि ऐसी होनी चाहिये जो कि सत, असत, उचित-अनुचित, भले-बुरे का तुरत यथार्थ निर्णय कर सके। तथा जो मन को मार कर अहकार का नाश करती हुई चित को आनन्दमय बनाने में खरी साबित हो।

विद्या–किसी भी चीज की जानकारी जिससे हो उसे विद्या कहते हैं। दूसरे शब्दों में विद्या का अर्थ है– ज्ञान, जड़ता का नाश, प्रकाश इत्यादि। इसीलिये सरस्वती का एक नाम विद्या भी है। और उसके गहने कपड़ो का रग सफेद माना गया है। सफेद रग प्रकाश यानी ज्ञान का प्रतीक है। ज्ञान होते ही जड़ता का अँधेरा यानी अज्ञान दूर हो जाता है। उसी प्रकार जैसे सूरज के उदय होते ही रात का अँधेरा। किसी महात्मा का वचन है–प्रकाश हमेशा पूर्व से ही मिलता है।

सर्वप्रथम पूर्व के अपूर्व देश भारतवर्ष ने काफी अनुभव और खोज के बाद, विद्या दो प्रकार की निश्चित की है। १–अपरा विद्या। २– परा विद्या।

पश्चिमी देश अर्थात् अमरीका, इग्लैंड तथा दुनिया के दूसरे देश एक ही प्रकार की विद्या (अपरा) पर जोर देते हैं। आखिर दोनों में इतना फर्क क्यों है?

इसका सबसे बड़ा कारण है–दुनिया जब कि सभ्यता के रास्ते पर कदम बढ़ा रही थी–हमारा देश–आर्य देश उस समय पूर्णता की मजिल पर पहुँच चुका था। उसने जगत्‌गुरु जैसा महान पद पा लिया था।

अपरा विद्या–शरीर निर्वाह करने के लिये जरूरी है। जैसे खेती-बाड़ी, व्यापार धधा, कलाकौशल, शिल्प, राजगीरी, सुनारगीरी, बढ़ईगीरी, दर्जीगीरी, वाकूगीरी आदि। बड़े बड़े (भौतिक वैज्ञानिक) आविष्कार भी अपरा विद्या मे ही गिने जाते हैं। इस विद्या से सासारिक भोग भोगने को मिलते हैं, भोग में सुख प्राप्त होता है। चूंकि अपरा विद्या का सम्बन्ध ससार से है, इसलिये वह प्राप्त होने वाला सुख भी ससार की तरह नाशवान यानी कुछ देर का होता है।

पी से कही आग बुझा करती है ? हम लाख भोग भोगें, किन्तु हमारी तृप्ति कभी नही होगी, तृष्णा कभी नही मिटेगी, दिल कभी नही भरेगा ।

सुनते है अमरीका में दर्जनो मंजिल के महल हैं, एयर कन्डीशन्ड (शीतताप नियंत्रित)। रोज नई कारें, रोज नई सुन्दरियाँ, रोज नई सुरायें फिर भी सुख चैन, शान्ति-सुख नही । क्यो ? इसलिये कि हमारे यहाँ सात सात द्वीपो पर शासन करने-वाले बडे बडे सम्राट हुए, जिन्होंने आज से भी कही अधिक भोग-विलास की सामग्रियों से अपने भडार भरे । फिर भी उन्हें शान्ति नसीब नही हुई । सुख तो मिला लेकिन कुछ देर को, फिर वही अभाव, वही तृष्णा, वही लालसा, वही दु:ख, वही पीडा ।

आखिर वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि, सिर्फ अपरा विद्या से काम नही चल सकता । कोई ऐसी विद्या होनी चाहिये जिससे अखड आनन्द व पूर्ण शान्ति प्राप्त हो, और तब इस विद्या से परे यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने वाली, असलियत बताने वाली परा विद्या का प्रचार हुआ । उसी के बल पर ऋषि, मुनि एव सत महात्माओ ने अखड आनद व पूर्ण शान्ति का अनुभव किया और ससार को प्रेरणा दी कि, परा विद्या के बिना मनुष्य का किसी तरह कल्याण नही है ।

परा विद्या उसे कहते हैं–जिससे मनुष्य को अपने अविनाशी स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

'अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते ।'

(मुण्डकोपनिषद १–१–५)

इसी को आत्मज्ञान भी कहते हैं। जिसे प्राप्त कर मनुष्य विषमता से समता की ओर आता है । अर्थात् सबमें अपने को और अपने में सबको देखता है । वह सभी कार्यों को करता हुआ, सदा शान्त रहता हुआ, आनन्द में लीन रहता है। क्यो न वह आनन्द में लीन रहे, उसे न किसी से भय हैं न द्वेष, न राग, न घृणा और न किसी पर क्रोध । और हो भी तो कैसे ? यह तो तभी तक होते हैं जब तक कि अपने और पराये में भेद रहता है । अब न तो उसका कोई शत्रु है न मित्र । अब तो वही सर्वत्र है ।

" खा– पी मौज कर " इसी विद्या के बल पर सुख शान्ति जैसी अनमोल चीज प्राप्त करने की कोशिश करना, बालू से तेल निकालने जैसा ही है ।

एक जमाना था जबकि अपरा और परा दोनो विद्यायें सीख कर हमारे गुरुकुलो से विद्यार्थी निकला करते थे, सुन्दर, तेजस्वी, कल्याण रत, पतिव्रत्त, जीवन सग्राम में वे बहादुर सिपाही की तरह डटे रहते थे उनमे उत्साह होता था, धीरज होता था, साहस होता था, क्योंकि प्रकृति नियमानुसार हर एक के जीवन मे उतार चढ़ाव आते ही रहते हैं ।

अब जरा स्कूल कालेजो पर भी दृष्टि डालिये । ऐसा लगता है कि—यह शिक्षालय नही बल्कि क्लर्क बनाने के कारखाने है । और आज की शिक्षा जैसे क्लर्क बनाने

तथा क्षमा के कारण काबू पा जायेंगे। इस प्रकार बुद्धि डावांडोल होने की नौबत ही न आयेगी। परा विद्या के द्वारा वह सत्य मार्ग पर बढ़ती हुई धीरे धीरे अहकार का नाश कर देगी।

चूंकि सत्य-मार्ग पर अनेक विघ्न-बाधायें आती है परन्तु धैर्य के द्वारा हम उन पर विजय प्राप्त करते हुए कभी न कभी आनन्दमय हो ही जायेंगे जाकि हमारा लक्ष्य है, सच्चा स्वरूप है। याद रखिये —

धर्म धारण करने से ही विश्व में शान्ति होती है। जब जब धर्म का नाश होता है, अशान्ति बढ जाती है, तब तब कोई न कोई महापुरुष, महात्मा ससार में आता है और वह अपने आदर्श जीवन, महान् विचार तथा ऊँचे आचरण द्वारा फिर से धर्म की स्थापना करता है।

यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मान सृजाम्यऽहम्॥
गीता ४-७

हे भारत! जब-जब धम की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ।

यह दस लक्षणा वाला धम अभ्यास के द्वारा धारण किया जाता है, अभ्यास के लिये गुरू का होना अनिवार्य है। गुरू पहले धर्म धारण कराता है फिर कर्म, भक्ति और ज्ञान का उपदेश देकर हमें आनन्दमय बना देता है।

गुरु

सामान्यतया जिससे किसी प्रकार की विद्या या कला प्राप्त होती है, वह गुरु कहलाता है। विद्यादान सबसे बडा दान है (सर्वेषामेव दानानांविद्यादानंविशिष्यते) इसलिये दाता को गुरु अर्थात् महान कहा गया है। गुरु के बिना दूसरे तरीकों से किसी भी तरह का ज्ञान प्राप्त करना प्राय असम्भव सा है। हारमोनियम शिक्षा या बिजली-शिक्षा पर हम कितनी ही पुस्तकें पढ जाये, किन्तु उससे न हम अच्छी तरह हारमोनियम बजाना सीख सकते हैं न हमें बिजली की ही पूरी जानकारी हो सकती है। क्योंकि पुस्तकें जड होती हैं। उनसे क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। वह तो किसी अनुभवी आदमी के ही द्वारा मिल सकता है। सम्भव है, सासारिक ज्ञान किसी को पुस्तको द्वारा प्राप्त हो भी जाय, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान का सचार तो बिना गुरु द्वारा असम्भव है।

गुरु को अनुभवी होना चाहिये। क्योंकि अध्यात्म ज्ञान चाहे उसने पुस्तको द्वारा जान लिया हो, और चाहे वह धुरन्धर विद्वान् ही क्यों न हो, परन्तु यदि ज्ञान-मार्ग पर चलकर, उसने आनन्दानुभव नही किया है वह भला किस तरह दूसरे को आनन्दामृत-पान करा सकेगा। जैसे जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को जला सकता है, उसी प्रकार जिसके अन्दर ज्ञान-ज्योति का प्रकाश हो रहा है, वही दूसरे के अन्त करण में प्रकाश कर सकता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि, चेतन ही चेतन मे ज्ञान का सचार कर सकताहै। जड कदापि नही।

प्रश्न उठता है कि गुरु की पहचान क्या है? गुरु कैसा होना चाहिये?

चूंकि हमारा लक्ष्य अखण्डानन्द व पूर्णशान्ति प्राप्त करना है इसलिये हमारा गुरु भी अखण्डानन्द व पूर्णशान्ति से युक्त होना चाहिये। अगर वह धर्मिष्ट यानी धर्म के दस लक्षण को धारण करने वाला नही है तो वह अपने शिष्य को धर्मिष्ट कैसे बना सकता है। अगर बनाने का दम्भ भी करेगा तो वह पाखण्ड मात्र होगा। ऐसे पाखण्डी गुरु आज गली गली में फिरते हैं। शिष्य को उपदेश दिया कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि छोड दो, और वे स्वय इनके दास बन हुये हैं। जैसे किसी कथा-वाचक ने कथा मे कहा कि बैंगन नही खाना चाहिये। उसकी धर्म-पत्नी भी कथा सुन रही थी। जैसे ही पण्डित जी बैंगन लेकर आये, उनकी धर्म-पत्नी ने कहा कि अरे आप बैंगन ले आये। कथा में तो आपने न खाने का उपदेश दिया था। पण्डित जी ने कहा कि अरे पगली तेरे को पता नहीं कि वे तो कथा के बैंगन थे। उनकी धर्म-पत्नी ने तुरन्त ही सोच लिया कि —

की मशीन। हर साल हजारों डिग्रियाँ बाँटी जाती हैं जैसे कोई दैनिक अखबार। अधिकांश विद्यार्थी सार्टिफिकेट लेकर जब कालेज छोड़ते हैं तो ऐसा मालूम होता है मानो अस्पताल से मरीज निकल रहे हैं।

विद्यार्थियों का भी क्या दोष ? उन्हें शिक्षा ही ऐसी दी जाती है कि उनमें से अधिकांश को किसी दफ्तर में कलम घिसने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं सूझता। इसके विपरीत एक बढ़ई या कुम्हार या मोची अपने मा बाप से अपना खानदानी धंधा सीख कर अपने परिवार का पालन करता हुआ मजे से जीवन बिताता है।

ऐसी हालत में जबकि जीवन निर्वाह की पूरी शिक्षा भी नहीं दी जाती, यानी अपरा विद्या भी पूर्ण रूप से नहीं सिखाई जाती। फिर परा विद्या की तो आशा ही क्या की जा सकती है ?

आदमी चाहे हजार तरह की विद्याएँ प्राप्त कर ले, लाख भोग की सामग्री जुटाल लेकिन अखंड आनंद—परम शान्ति तो एकमात्र परा विद्या से ही मिल सकती है। इसलिये परा विद्या का धारण करना बहुत जरूरी है।

सत्य—स्वयं प्रकाश है, ज्ञानमय है, अविनाशी है। वह किसी भी काल में, किसी भी परिस्थिति में, किसी के लिये भी कभी नहीं पलटता है।

सत्य का सामान्य अर्थ जैसा किया, सुना या देखा हो बिलकुल वैसा ही कह देना है। सत्य के मार्ग में बहुत सी बाधायें, बहुत सी मुसीबतें आती हैं लेकिन उनका फल मीठा ही होता है। यानी अंत में सत्य की ही विजय होती है। अनलहक (सोहं) की सदा लगाते हुए मसूर शूली पर चढ गया लेकिन सत्य नहीं छोड़ा। ईसा शूली पर झूल गया लेकिन सत्य का त्याग नहीं किया। सत्यवादी हरिश्चन्द्र को कितनी ही मुसीबतें उठानी पड़ी लेकिन वे अंत तक सत्य पर ही डटे रहे। इसीलिये उनका नाम अमर हो गया।

आशय यह कि, सत्य को धारण करना उसको अंत तक निभाना शक्तिशाली आदमी का ही काम है। आध्यात्मिक शक्ति से हीन, दुर्बल आदमी सत्य धारण कर ही नहीं सकता। अगर कर भी लेता है तो सकट आने पर डिग जाता है। मनुष्य झूठ क्यों बोलता है ? अपनी कमियों पर, अपनी गलतियों पर, अपनी बुराइयों पर परदा डालने के लिये या किसी प्रकार के भय के कारण, अथवा स्वार्थ सिद्धि (अपने मतलब) के लिये।

जो कर्म छिप कर, डरते हुए किया जाता है वह पाप कहलाता है। एक पाप को छिपाने के लिए हजार झूठ बोलनी पड़ती है। इस तरह घटने की बजाय पाप का बोझ बढता ही जाता है। जबतक दूसरों को उस पाप का पता न लगे वह दुर्गुण किस प्रकार दूर हो सकता है ? जो मनुष्य सत्य का धारण कर लेता है वह एक तो बुरे रास्ते पर पाँव रखता ही नहीं। अगर रख भी देता है, या उसमें पहले के दुर्गुण होते हैं तो वह उन्हें

आता नही है । बल्कि सबके सामने बिना किसी सकोच के प्रकट कर देता है । सत्यवादी का जीवन एक खुली पुस्तक की तरह होता है । इस प्रकार वह उन दुर्गुणों से छुटकारा पा जाता है । वेद में भी कहा गया है-

असतो मा सद् गमय ।

अर्थात् हे प्रभो मुझे असत्य से छुडाकर सत्य की प्राप्ति करावो ।

अक्रोध--कोई किसी तरह कितना ही अपना अहित (बुरा) करे, फिर भी उस पर क्रोध न करने का नाम अक्रोध है । जब हमारी कामनाओ की पूर्ति में बाधा पडती है या कोई हमारा नुकसान या बुरा करता है, तो हम मे सहसा क्रोध पैदा होता है, जिससे हमारी बुद्धि का सतुलन बिगड जाता है और हम एकदम विचार शून्य हो जाते है । यानी हमारी सोचने समझने की शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है, फल यह होता है कि हम ऐसे काम कर बैठते है जो हमें कदापि न करने चाहिये । अक्सर बाद में पछताना पडता है कि, "हाय हमने क्रोध में यह क्या अनर्थ कर डाला ।"

क्रोधाद्भवतिसंमोहः-

क्रोध एक भूत है, एक बैताल है जो सवार होते ही मनुष्य को पागल सा बना देता है । आयुर्वेद ने भी यह सिद्ध किया है कि, क्रोध करने वाले का खून सूखता चला जाता है, क्योंकि क्रोध करने से खून मे एक अस्वाभाविक गर्मी पैदा होती है । अक्सर कहा भी जाता है -

कमजोर आदमी गुस्सा ज्यादा ।

और तो क्या ? क्रोध से बडे से बडा तपोबल भी क्षीण हो जाता है । जो आदमी अक्रोध का व्रत ले लेता है और पूरी तरह उसका पालन करता है उसकी बुद्धि स्थिर रहती है । भले ही अगला आदमी कितना ही क्रुद्ध हो, गालियाँ दे, हाथ उठाये, फिर भी हँसता ही रहता है । अगर कभी क्रोध का अश आ भी गया तो जब्त कर लेता है, यानी उस पर काबू पा लेता है । इस प्रकार अक्रोध के जल से क्रोध की ज्वाला शान्त हो जाती है अथवा मदी पड जाती है ।

ऊपर लिखे हुए धर्म के दस लक्षण धारण करने से हम सब प्रकार से उन्नति करते हुए अखड आनद, परम शान्ति प्राप्त कर सकते है । क्योकि जब हमारा शरीर शुद्ध अन्न द्वारा निरोगी तथा हृष्ट-पुष्ट होगा तो हम बाहर-भीतर (तन मन) से शुद्ध रह सकेंगे । अर्थात् हम अच्छे रास्ते पर ही जायेंगे । कदाचित् हमारे रास्ते मे कोई बुरी चीज आ भी गई तो इन्द्रिय निग्रह के कारण बुरे विचार पैदा ही नही होगे ।

हो सकता है बुरे विचार भी पैदा हो जाये तो इन्द्रिय दमन के कारण वे दब जायेंगे । अगर वे विचार किसी कामना में बदल गये तथा उसकी पूर्ति न होने के कारण हम में क्रोध पैदा हो गया या किसी ने हमारा अहित कर दिया, तो हम उस पर अक्रोध

तथा क्षमा के कारण काबू पा जायेंगे। इस प्रकार बुद्धि डावांडोल होने की नौबत ही न आयेगी। पर विद्या के द्वारा वह सत्य मार्ग पर बढ़ती हुई धीरे-धीरे अहंकार का नाश कर देगी।

चूंकि सत्य मार्ग पर अनेक विघ्न-बाधायें आती हैं परन्तु धैर्य के द्वारा हम उन पर विजय प्राप्त करते हुए कभी न कभी आनन्दमय हो ही जायेंगे जोकि हमारा लक्ष्य है, सच्चा स्वरूप है। याद रखिये --

धर्म धारण करने से ही विश्व में शान्ति होती है। जब जब धर्म का नाश होता है, अशान्ति बढ़ जाती है, तब तब कोई न कोई महापुरुष, महात्मा संसार में आता है और वह अपने आदर्श जीवन, महान् विचार तथा ऊंचे आचरण द्वारा फिर से धर्म की स्थापना करता है।

यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मान सृजाम्यऽहम्॥
गीता ४-७

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ।

यह दस लक्षणो वाला धर्म अभ्यास के द्वारा धारण किया जाता है, अभ्यास के लिये गुरु का होना अनिवार्य है। गुरु पहले धर्म धारण कराता है फिर कर्म, भक्ति और ज्ञान का उपदेश देकर हमें आनन्दमय बना देता है।

गुरु

सामान्यतया जिससे किसी प्रकार की विद्या या कला प्राप्त होती है, वह गुरु कहलाता है। विद्यादान सबसे बडा दान है (सर्वेषामेव दानानाविद्यादानविशिष्यते) इसलिये दाता को गुरु अर्थात् महान कहा गया है। गुरु के बिना दूसरे तरीको से किसी भी तरह का ज्ञान प्राप्त करना प्राय असम्भव सा है। हारमोनियम शिक्षा या बिजली-शिक्षा पर हम कितनी ही पुस्तकें पढ जाये, किन्तु उससे न हम अच्छी तरह हारमोनियम बजाना सीख सकते हैं न हमें बिजली की ही पूरी जानकारी हो सकती है। क्योंकि पुस्तकें जड होती है। उनसे क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। वह तो किसी अनुभवी आदमी के ही द्वारा मिल सकता है। सम्भव है, सासारिक ज्ञान किसी को पुस्तको द्वारा प्राप्त हो भी जाय, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान का सचार तो बिना गुरु द्वारा असम्भव है।

गुरु को अनुभवी होना चाहिये। क्योंकि अध्यात्म ज्ञान चाहे उसने पुस्तको द्वारा जान लिया हो, और चाहे वह धुरन्धर विद्वान् ही क्यो न हो, परन्तु यदि ज्ञान-मार्ग पर चलकर, उसने आनन्दानुभव नही किया है वह भला किस तरह दूसरे को आनन्दामृत-पान करा सकेगा। जैस जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को जला सकता है, उसी प्रकार जिसके अन्दर ज्ञान-ज्योति का प्रकाश हो रहा है, वही दूसरे के अन्त करण में प्रकाश कर सकता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि, चेतन ही चेतन में ज्ञान का सचार कर सकताहै। जड कदापि नही।

प्रश्न उठता है कि गुरु की पहचान क्या है ? गुरु कैसा होना चाहिये ?

चूकि हमारा लक्ष्य अखण्डानन्द व पूर्णशान्ति प्राप्त करना है इसलिये हमारा गुरु भी अखण्डानन्द व पूर्णशान्ति से युक्त होना चाहिये। अगर वह धर्मिष्ट यानी धर्म के दस लक्षण को धारण करने वाला नही है तो वह अपने शिष्य को धर्मिष्ट कैसे बना सकता है। अगर बनाने का दम्भ भी करेगा तो वह पाखण्ड मात्र होगा। ऐसे पाखण्डी गुरु प्राय गली गली में फिरते है। शिष्य को उपदेश दिया कि काम, क्रोध मद, लोभ आदि छोड दो, और वे स्वय इनके दास बन हुये हैं। जैसे किसी कथा-वाचक ने कथा में कहा कि बैंगन नही खाना चाहिय। उसकी धर्म-पत्नी भी कथा सुन रही थी। जैस ही पण्डित जी बैंगन लेकर आये, उनकी धर्म-पत्नी ने कहा कि अरे, आप बैंगन ले आये। कथा में तो आपने न खाने का उपदेश दिया था। पण्डित जी ने कहा कि अरे पगली तेरे को पता नही कि वे तो कथा के बैंगन थे। उनकी धर्म-पत्नी ने तुरन्त ही सोच लिया कि —

पर उपदेश कुशल बहु तेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।।

इस प्रकार के गुरुओं को डाइरेक्ट पोस्ट यानी दिशा बताने वाला खम्भा ही समझना चाहिये। जो दूसरों को तो चला देता है मगर खुद उस रास्ते पर कभी नहीं चलता।

गुरु कैसा हो इस बारे में हमारे शास्त्रों में बहुत कुछ कहा गया है। संक्षेप में इतना ही काफी होगा कि वह अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करने की सामर्थ्य रखता हो। गुरु दो शब्दों से बना है। गु=अन्धकार और रु=प्रकाश। जो अन्धकार से प्रकाश में लाये वही गुरु है। वह स्नेही दयालु परिश्रमी, प्रभावशाली, अनुशासक होने के साथ ही साथ पूरी तरह चरित्रवान् तथा शांत भी हो। क्योंकि शिष्य प्रायः गुरु का ही अनुसरण किया करता है। हमारे सबसे पहले गुरु माता पिता होते हैं। अगर उनमें कोई दोष या दुर्गुण होता है तो बच्चे में भी आ जाता है। आज कितने ही प्रोफेसरों की देखा देखी उनके छात्र भी सिगरेट और शराब पीते देखे जाते हैं। मतलब यह है कि गुरु का चरित्र आदर्श-चरित्र हो, तभी शिष्य के दिल पर सद्गुणों की ऐसी छाप पड़ सकती है जो कभी न मिटे। जैसा गुरु होता है वैसा ही उसका चेला भी। कहा भी है कि — *लोभी गुरु लालची चेला, दोऊ नरक में ठेलम ठेला। अधिक क्या कहें गुरु* की महिमा सागर के समान महान् है। गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु और गुरु महेश के समान पूजनीय हैं।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मैश्रीगुरवेनमः।।

कहां तक कहें इनसे भी अधिक महत्व सद्-गुरु का है, जो हमें मनुष्य-शरीर की श्रेष्ठता क्यों है,यह समझा कर इसमें रहने वाले हमारे असली स्वरूप का वास्तविक ज्ञान कराकर अखण्ड आनन्द व पूर्ण-शान्ति प्राप्त कराता है।

गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आप की, जिन गोविंद दियो बताय ।।

वस्तुतः वह सद्-गुरु ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही होता है अर्थात् साक्षात् सच्चिदानन्दमय होता है।

किसी राजा के यहां एक महात्मा जी ठहरे हुए थे। वे जब सवेरे स्नान करने जाते थे तो एक भंगी रास्ते के साफ करने से उड़ने वाली धूल को—दूर से अपने वस्त्र द्वारा हटा दिया करता था ताकि वह उनके शरीर पर न गिरे। इसी तरह कितने ही दिन बीत गये। महात्मा जी ने सोचा— यह बेचारा बिना किसी स्वार्थ के रोज मेरी सेवा करता है, इसका भला करना चाहिये।

उन्होंने राजा से कह कर एक ऐसा हीरा लिया जो खजाने भर में बेजोड़ था। सवेरे जब नहाने गये तो भंगी के पास गिरा दिया।

अब महात्मा जी वहाँ से चले गये और साल भर बाद घूमघाम कर लौटे। सवेरे नहाने गये तो देखा भगी उसी तरह झाड़ू लगा रहा है, तथा धूल उड़ा रहा है। महात्मा जी ने सोचा-" अरे मैं तो अनमोल हीरा इसके पास डाल गया था। यह तो वहीं का वही है। शायद हीरा किसी दूसरे के हाथ पड़ गया होगा।"

महात्माजी ने अबकी बार उससे कुछ कम मूल्य का एक हीरा लिया और फिर उसी तरह भगी के पास गिरा दिया।

वे फिर चले गये और साल भर बाद लौटे। देखा भगी उसी तरह झाड़ू लगा रहा है, उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। बोले-भाई, तुम रोज झाड़ू दिया करते हो, कभी कुछ गिरा पड़ा भी मिलता है?

भगी बोला-महाराज ऐसी तकदीर कहाँ? हाँ छोटी मोटी चीजें कभी कभी मिल जाया करती हैं। दो साल पहले एक काँच का टुकड़ा मिला था। मैंने सोचा-चलो अँगूठी बनवा लेंगे। मगर-इतनी चाँदी ही नहीं जुड़ी। फिर गये साल भी वैसा ही एक काँच का टुकड़ा मिला। मैंने सोचा-दो काँच हो गये, घरवाली के बुंदे बन जायेंगे मगर हाय रे गरीबी। आज तक कुछ बना बनाया नहीं, दोनों काँच पड़े हैं घर में।

जैसे ही महात्मा जी ने बताया कि-'वे काँच नहीं अनमोल हीरे हैं, भगी उछल पड़ा और वह चरणों में पड़ गया बोला- गुरुदेव आपको धन्य है, आज आपने मूल्य बता दिया, मैं सुरत्न रतन को भी काँच समझता था, अब कल से आप मुझे इस हालत में कभी न देखेंगे।

साराश यह कि बुद्धि जैसी बेजोड़ वस्तु तथा मनुष्य जैसे देव, दुर्लभ शरीर का मूल्य बता कर-धर्म धारण कराता हुआ-कर्म, भक्ति और ज्ञान द्वारा-केवल गुरु ही हमें अखण्ड आनन्द, पूर्ण शान्ति प्राप्त करने योग्य बना सकता है, और कोई नहीं।

शिष्य

किसी को भी गुरु मान कर किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति को शिष्य कहते हैं। किसी महान् नेता या महात्मा के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिये हम जाते है तो हमारे मन में उसके प्रति श्रद्धा होती है। या किसी देवता के दर्शन करने हम जाते हैं तो श्रद्धालु बनकर ही जाते हैं। वैसे ही गुरु के शरण में जाने से पहले शिष्य में श्रद्धा तो होनी ही चाहिये। अगर शिष्य तर्क में ही पडा रहा तो कुछ भी हासिल न कर सकेगा। गुरु पर श्रद्धा और विश्वास रखने वाला ही कुछ ग्रहण कर सकता है। अयोग्य को अगर ज्ञान मिल भी जाता है तो उसमें ठहर नहीं पाता। जैसे शेरनी का दूध सोने के पात्र में ही ठहरता है। दूसरे पात्रों को तो वह फोडकर निकल जाता है। इसी प्रकार अधिकारी के अन्दर ही ज्ञान टिक सकता है। अनधिकारी के अन्दर वह ठहर नहीं सकता, क्योंकि वह उसे पचा नहीं सकता। कहा भी है —" आध सेर के पात्र में कैसे सेर समाय "। जौहरी तभी बेशकीमती हीरा दिखाता है जब देखता है कि ग्राहक खरीदने की सामर्थ्य रखता है। इसी प्रकार सद्-गुरु के हृदय में छिपे हुए अमूल्य रत्न तभी प्रकाश में आ सकते है जब शिष्य उनका पात्र तथा अधिकारी हो।

अगर शिष्य अपात्र या अनधिकारी होगा तो सर्वप्रथम गुरु उसे अपना शिष्य बनायेगा ही नहीं। अगर बना भी लेगा तो अयोग्य जानकर वे रत्न उसे कभी न सौंपेगा। यानी ज्ञान के असली तत्वों को प्रकाशित नहीं करेगा। क्योंकि वे समझते हैं कि इससे यह लाभ नहीं उठा सकता है। इसमें तो ज्ञान की बरबादी ही है तथा उस अनधिकारी की भी बरबादी ही है।

गुणा गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्तिनद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः॥

गुण गुणी (अधिकारी) मनुष्य में गुणवान होते हैं लेकिन यदि वे ही गुण किसी अनधिकारी को प्राप्त हो जांय तो वे दोष में बदल जाते हैं। जैसे नदी का शुद्ध और शीतल जल पीने योग्य होता है, लेकिन नदी [illegible] में जाकर खारा हो जाता है, पीने योग्य नहीं रहता।

इसलिये गुरु को अगर गुणों का भंडार होना चाहिये तो शिष्य में भी नीचे लिखे हुए गुण तो अवश्य ही होने चाहिये। तभी वह उस दुर्लभ ज्ञान को प्राप्त कर सकेगा जिसमें आनन्द ही आनन्द, शान्ति ही शान्ति है।

गुरु के प्रति श्रद्धा-विश्वास अर्थात् गुरु के वचनों को सत्य समझ कर उनका पालन करना। गुरु को ही अपना माता पिता, संरक्षक और परमेश्वर जानना।

दीनता-नम्रता— अर्थात् अपने को तुच्छ अकिंचन, दास, अज्ञानी, चरणों की धूल समझना।

सेवाभाव—अर्थात् तन मन धन से गुरु की सेवा करता हुआ उन्हें सन्तुष्ट रखना।

आज्ञापालन — सदा गुरु की आज्ञा शिरोधार्यकर उसका पालन करना।

एकलव्य का नाम कौन नहीं जानता जिसने गुरु की इच्छा पूरी करने के लिये अपना अँगूठा तक दे डाला। आरुणी की कथा भी गुरु भक्ति की एक बेजोड़ मिसाल है।

घोर वर्षा हो रही थी। गुरु ने अपने शिष्य आरुणी से कहा—बेटा, खेत की मेंड टूट गई है, जाकर ठीक कर दो।

"जो आज्ञा" कह कर आरुणी चला गया। बरसात बढ़ती ही जाती थी। आरुणी मिट्टी लगाते-लगाते थक गया मगर पानी के वेग के कारण मेड ठहर न सकी।

आखिर उसे एक तरकीब सूझी। मिट्टी की जगह आड़ा होकर खुद लेट गया। कई दिन तक भयंकर बरसात होती रही। और आरुणी उसी तरह बिना खाये पिये पड़ा रहा। जब पानी थमा तो गुरु ने अपने शिष्यों से पूछा— अरे आरुणी कहा है ?

आखिर खोजते खोजते पता लगा कि आरुणी तो खेत में मेड बना हुआ है। गुरु ने गदगद् होकर उसे हृदय से लगा लिया और उस वह विद्या दी, जो कोई शिष्य न पा सका।

अगर सर्वगुण सम्पन्न (सब प्रकार से गुणों वाला) गुरु न मिले तो भी कोई हरज नहीं। जो भी गुण जिसमें हो — उसे गुरु मान कर वह गुण प्राप्त किया जा सकता है। संसार में गुरुओं की कमी नहीं। शिष्य में इतनी योग्यता होनी चाहिये कि वह उनसे कुछ ग्रहण कर सके। इतिहास साक्षी है। दत्तात्रेय ने एक नहीं, दो नहीं, पूरे चौबीस गुरु बनाये और उनसे ज्ञान प्राप्त किया।

महाराज यदु ने परम अवधूत आनन्द मय ब्राह्मण दत्तात्रेय से पूछा— हे ब्रह्मन्, आपको यह निपुण बुद्धि कहां से प्राप्त हुई जो कि आप विद्वान होकर भी एक बालक की तरह, एक पागल की तरह, सुख दुःख से मुक्त होकर मस्त विचर रहे हो। संसार के मनुष्य तो धन यश आदि की कामना किया करते हैं। किन्तु आप पंडित, समर्थ, वक्ता, चतुर और सुन्दर होकर भी कोई इच्छा नहीं रखते। दुनिया के लोग जबकि काम

क्रोध लोभ आदि की दावानल में जले जा रहे हैं। आप गंगा जी के बीच में खड़े हाथी की तरह उस आग से निर्भय हैं, हे भगवन! कृपा करके बताइये आपने ऐसा अखंड आनन्द कहाँ से पाया जो किसी तरह भंग होता ही नहीं।"

तब महात्मा दत्तात्रेय ने कहा—"राजन्! मैंने पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र पतंगा, भौंरा, हाथी, मधुहा, हरिण, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुमारी, बाण कर्ता, सर्प, मकड़ी, और कीट ये चौबीस गुरु बनाये हैं, इन्हीं से ज्ञान प्राप्त किया है। ज्ञान ही मेरे अखंड आनन्द का कारण है।"

मतलब यह कि संसार की हर चीज उपदेश दे रही है, समझदार साधना करने वाला होना चाहिये। जिससे अखण्ड आनन्द व पूर्ण शान्ति प्राप्त हो।

साधना के तीन अंग हैं, जो कि एक दूसरे से अभिन्न हैं। अर्थात् मिले जुले सटे हुए हुए हैं। उनके नाम हैं— १-कर्म २-भक्ति ३-ज्ञान। जैसे त्रिवेणी, गंगा, यमुना और सरस्वती। अथवा यों समझ लीजिये कि, जैसे कमल की शोभा जल से है, जल की शोभा कमल से है और तालाब की शोभा जल और कमल दोनों से है। इसी प्रकार यह तीनों (कर्म, भक्ति और ज्ञान) भी आपस में एक दूसरे से शोभायमान हैं। इन्हीं तीनों साधनों के द्वारा ही अखण्ड आनन्द व पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है।

योगास्त्रयोमया प्रोक्तानृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भागवत ११-२०६)

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—'प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिये अधिकारभेद से तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है। वे हैं— ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्य के परम कल्याण के लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है।

कर्म — वेद विहित निष्काम कर्म करना कर्म रूपी साधना है।

भक्ति— परमेश्वर में परम प्रेम का नाम ही भक्ति साधना है।

ज्ञान— आत्म अनात्म पदार्थ का विवेक करके अपने परमार्थ-स्वरूप का साक्षात्कार करना ज्ञान रूपी साधना है।

कर्म

क्रियतेऽद्दति कर्मः। करने का नाम कर्म है। कर्मणा जायते जन्तु कर्मणैव विलीयते, अर्थात् कर्म से ही जीव पैदा होते है और कर्म से ही मरते हैं। सृष्टिकर्ता माया शक्ति विशिष्ट ईश्वर के ऐश्वर्य-विस्तार सकल्प से पूर्व न तो कोई सृष्टि थी और न तो कोई सृष्टि में होनेवाली क्रिया। जब ईश्वर ने ऐश्वर्य विस्तार का सकल्प किया तब सृष्टि के साथ सृष्टि की क्रिया भी शुरू हुई। इस प्रकार सृष्टि को देखकर ईश्वर की शक्ति का ज्ञान होता है। क्योंकि कार्य से कारण की शक्ति का अदाजा लगाया जा सकता है। वस्त्र को देखकर ही हम रूई की महत्ता समझ पाते है।

मतलब यह है कि जब से सृष्टि बनी, ईश्वर से जब स्वय के ऐश्वर्य के विस्तार का सकल्प हुआ, तभी क्रिया भी शुरू हो गयी। कर्म भी आरम्भ हो गये और सृष्टि उत्पन्न हो गई। यह सृष्टि क्या है? जीव मात्र की कर्म-भूमि, अर्थात् सभी जीवो के उत्थान-पतन के हेतु यह कर्ममयी प्रयोगशाला है। सभी जीव कर्मरत है। कर्म निरन्तर करने ही पडते है। चाहे आनन्दपूर्वक स्वेच्छा से कीजिये अथवा विवश होकर दुखी मन से। कर्म किये बिना छुटकारा ही नही। देहाभिमानी मानव एक क्षण भी निष्क्रिय नही रह सकता।

"नहि कश्चित् क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्म कृत्" ॥ गीता ॥

हाँ स्वरूप जान लेने पर वह सब कुछ करते हुये भी निष्क्रिय माना जायगा। क्योंकि उस समय इन्द्रिया, इन्द्रियो के अर्थ वर्तती है, ऐसी उसकी धारणा हो जाती है।

> नैव किंचित करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित ।
> पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥
> प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
>
> गीता ५–८–९

लोग कहते है कि हमारे भाग्य में ही नही है। हमारी तकदीर में ही ऐसा लिखा है। ये भाग्य या तकदीर भी असल मे कुछ नही हमारे पिछले जन्म के कर्म ही है। हमी अपने भाग्य या तकदीर के बनाने वाले है। पिछले जन्म मे हमने जैसा कर्म किया उसी के अनुसार हमें यह शरीर मिला, और अब जैसा कर्म हम करेंगे–आगे वैसा ही

शरीर मिलेगा। अगर अच्छे कर्म करेंगे तो मनुष्य और देवता का शरीर मिलेगा और बुरे कर्म किये तो कौए, कुत्ते आदि की योनि मिलेगी।

जैसा बोओगे वैसा काटोगे। न केवल शरीर बल्कि स्वभाव, विचार, व्यवहार, सुख-दुख, हानि-लाभ आदि भी हमें कर्मानुसार ही मिलते रहते हैं।

जिस तरह सृष्टि अनादि है, वैसे ही कर्म भी। चेतन प्राणी जैसी जैसी क्रिया या चेष्टा करता गया उसे वैसा ही रूप आकार मिलता गया। चूंकि कर्म का आधार है-विचार। इसलिये हम जैसा सोचते हैं वैसे ही बन भी जाते हैं।

जैसे एक कुम्हार घड़ा, कुल्हड़, गमला, दीपक आदि जो चाहता है बनाता है, वैसे ही मनुष्य भी अपनी वासना द्वारा अपना निर्माण करता है।

यह लम्बा चौड़ा संसार एक बड़ी भारी कर्मभूमि है। कर्म करना हर प्राणी का स्वभाव है। महात्मा तुलसीदास ने भी कहा है–

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा ॥

मंगल या अमंगल, अच्छा या बुरा, उत्थान या पतन जो कुछ हमारे जीवन में होता है–हमारे ही कर्मों का फल है। हम भाग्य को दोष देते हैं, उसका मतलब भी हमारे कर्मों का ही दोष होता है। मनुष्य की यह भूल है कि अच्छी घटना घटने पर तो उसका कारण वह अपना कर्म बताता है और दुर्घटना का जिम्मेदार भगवान् को ठहराता है। असल में भगवान् से उसका ताल्लुक नहीं। उसके भी जिम्मेदार हमारे कर्म ही हैं यानी हम खुद ही हैं। हो सकता है कि इस जन्म में हमने कोई बुरा काम न किया हो, इससे पहले के और उससे भी पहले के जन्मों में किया है सो? वह भी तो भोगना ही होगा। कैसे बच सकते हैं कर्म फल से। दुनिया के हिसाब किताब में भले ही फर्क निकल आये, लेकिन प्रकृति का गणित तो पूरा बावन तोले पाव रत्ती है। उस सरकार में कोई रियायत नहीं, जैसी करनी–वैसी भरनी।

एक ब्राह्मणी थी। उसके जवान बेटे को सर्प ने डस लिया। उसे दुखी देख कर एक व्याध को दया आ गई। वह बोला–" माँ, तू काहे को रोती है? मैं अभी उस दुष्ट साँप को पकड़ लाता हूँ और तेरे सामने ही मार देता हूँ।' ब्राह्मणी बोली–' ना बेटे ऐसा न करना, मेरे पुत्र को सर्प ने डस लिया, ठीक है, लेकिन साँप को मारने से अब मेरा बेटा जी जायगा क्या? '

लेकिन व्याध किसी तरह न माना। उसने धनुष पर बाण चढ़ा कर जैसे ही पर चलने लगा– वहीं साँप वहाँ आ पहुँचा। साँप ने कहा–' भाई मैं बिल्कुल बेकसूर हूँ क्योंकि मैंने अपनी इच्छा से नहीं मौत की इच्छा से डस दिया है।

जैसी आज्ञा थी मौत की, वैसा ही मैंने किया। इसलिये अपराधी मैं नहीं मौत है।" उसी समय मृत्यु भी वहाँ आ पहुँची। काला शरीर, लाल-वस्त्र, लपलपाती जीभ, चमचमाती खड्ग, बड़ा भयंकर रूप था उसका। आते ही उसने कहा—"माता, मैं भी सर्प की ही तरह निर्दोष हूँ।" व्याध झल्ला पड़ा—"आखिर कैसे?" मृत्यु बोली—"ऐसे कि, मैं तो काल के इशारे पर यहाँ आई थी। काल ही इस अकाल मृत्यु का कारण है।" देखते-देखते काल भी वहाँ आ पहुँचा। व्याध ने कहा—"तू कौन?" काल ठहाका मार कर हँस पड़ा—"मैं? काल हूँ, महाकाल, संसार के सब प्राणी मेरे उदर में समाते चले जा रहे हैं, मैं बराबर उनके सुख दुख, हर्ष-शोक, उत्थान-पतन का तमाशा देखता रहता हूँ। हालांकि दुनिया में अच्छा या बुरा जो भी होता है काल के अनुसार ही होता है, लेकिन वास्तव में मेरा आना तभी होता है जब प्राणियों को उनके भले-बुरे कर्मों का फल देना होता है। यानी मैं तभी आता हूँ जब प्राणियों के कर्म-फल भोगने का काल आ जाता है। इसलिये मूर्ख व्याध! न सर्प, न मृत्यु, न काल कोई अपराधी नहीं है। व्याध को अब एकदम गुस्सा आ गया, बोला—"फिर अपराधी कौन है?" काल ने मुसकाते हुए कहा—"इस बालक के कर्म, किसी का दोष नहीं, इसके कर्मों का ही दोष है। इसने पहले जन्म में कर्म ही ऐसे किये कि इस जन्म में—बचपन में ही इसे मरना पड़ा।" सारांश यह है कि कर्म का करना और कर्म फल भोगना अनिवार्य है। यानी हमें कर्म करना ही होगा और जो कुछ हम करेंगे उसका अच्छा या बुरा फल भी भुगतना ही होगा। यही कारण है कि हम सुख-दुख, हानि-लाभ, जन्म-मरण के चक्र में चक्कर रहे हैं।

जब यह सिद्ध हो गया कि सब मुसीबतों की जड़ हमारे कर्म ही हैं, तो हम कर्म ही क्या करें जिससे हमें बंधन में बँधना पड़े? कर्म का ही त्याग क्यों न कर दें? माना कि कर्म करना अच्छी चीज है। लेकिन वह नथ किस काम की? जिसके पहनने से नाक ही कट जाय? सोने की कटारी का मतलब यह तो नहीं कि हम पेट में ही घाल लें? छोड़ दें कर्म करना, बन जाय निकम्मे—फक्कड़, न दुनिया में कोई व्यवहार कर, न घर गृहस्थी का पालन। विचार जितना सरल है कर्म उतना ही कठिन। हम पूछते हैं—कर्म का त्याग कैसे किया जा सकता है? आप कह सकते हैं कि साधु सन्यासी बन जायेंगे, संसार से कोई व्यवहार न रक्खेंगे, किन्तु सोचिये जरा-पेट तो भरना ही पड़ेगा। भिक्षा के लिये किसी गृहस्थ के द्वार पर जाना ही पड़ेगा। आप कहेंगे कि हम तो कंद मूल खाकर पेट पाल लेंगे, किन्तु वह भी कैसे प्राप्त होगा जब तक कि आप कंदमूल प्राप्ति के लिये कर्म न करें। क्या आप भोजन किये बिना रह सकते हैं? नहीं। मान लिया रह भी गये, तो क्या जल पिये बिना रहा जा सकता है? कभी नहीं। और जल भी छोड़ दिया तो क्या एक मिनिट भी साँस लिये बिना रहा जा सकता है? आप कहेंगे सांस रोक लेंगे—प्राणायाम करके। लेकिन हम पूछते हैं कितनी देर? और फिर प्राणायाम भी तो एक कर्म ही है। कर्म से छुटकारा है ही कहां? जब तक शरीर है तब तक कर्म भी हैं।

कर्म की अनिवार्यता पर स्कंद पुराण में बड़ा अच्छा प्रकाश डाला गया है।

भगवान शंकर बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे। महाराज हिमवान अपनी पुत्री पार्वती को लेकर उनके दर्शनों को पहुँचे। और इच्छा प्रकट की कि, मैं इसी तरह रोज उपस्थित होना चाहता हूँ।

महादेवजी ने कहा– "राजन् आप आयें तो अकेले आयें, पार्वती को साथ न लायें।" हिमराज ने पूछा– "क्यों?" "इसलिये कि आपकी कन्या अत्यंत सुन्दरी है, मेरी तपस्या में विघ्न पड़ेगा।" शंकर ने कहा।

हिमालय राज कुछ अचरज में पड़ गये। तभी पार्वती बोल उठी–"भगवान, एक प्रश्न है। यह तो बताइये, आप कौन हैं? और यह सूक्ष्म प्रकृति क्या है?" "प्रकृति का दूसरा नाम माया है। मैं तपस्या के द्वारा उससे परे जाकर जिस आनन्द रूप में स्थित रहता हूँ, वही मैं हूँ। प्रकृति भरमाने वाली है, ज्ञानियों को उसका संग्रह कदापि नहीं करना चाहिये।" शंकर ने जवाब दिया। पार्वती ने मुसकाते हुए कहा–"बलिहारी महाराज, आपने अभी अभी जिस उत्तम वाणी द्वारा जो कुछ कहा वह क्या प्रकृति नहीं है? फिर आप प्रकृति से दूर कैसे हो सकते हैं? यानी आप कर्म कैसे छोड़ सकते हैं? बताइये?" मेरी यह बात सुनकर यथार्थ का निर्णय करना चाहिये कि यह सारा जगत ही प्रकृति से बना हुआ है। आप जो सुनते हैं, खाते हैं और देखते हैं क्या वह प्रकृति का कार्य नहीं है? प्रकृति से परे होकर आप इस हिमालय पर इस समय तपस्या किसलिये करते हैं? प्रकृति से आप मिले जुले हैं क्या यह सिद्ध नहीं होता? यदि आप ही की बात सत्य है और आप प्रकृति से परे हैं तो आपको मुझ (प्रकृति) से भय नहीं करनी चाहिये। महादेवजी ने कहा –"साधु साधु पार्वती। तुमने सत्य कहा है अतः अनुमति देता हूँ कि तुम प्रतिदिन मेरी सेवा करो।"

सारांश यह है कि माटी का घर माटी से ही लीपा जाता है। अगर हम सोचने कि माटी का माटी से क्या लीपना। तो घर ढह जायगा। हम अपने घर को मजबूत रखते हुए आगे बढ़ सकेंगे। यानी देह और दुनिया से सम्बन्ध रखने वाले सभी कर्म करने ही पड़ेंगे। अगर हमने उनका त्याग कर दिया, तो एक पल भी जीना कठिन हो जायगा। इसलिये सांसारिक कर्म करना बहुत जरूरी है।

चूँकि हम मनुष्य हैं, हमारा जीवन आहार, निद्रा, भय मैथुन आदि तक सीमित नहीं है, इसलिये ऐसे कर्म भी हमारे द्वारा होते हैं जिनसे किसी दूसरे की भलाई हो। भगवान की पूजा, दान सेवा आदि भी हम करते ही रहते हैं। ये सब शास्त्र विहित कर्म कहलाते हैं। शास्त्र विहित कर्मों से क्षेत्र शुद्धि यानी खेत की जमीन साफ सुथरी– बोने लायक होती है ताकि ज्ञान का बीज उसमें आसानी से फूल कर आनन्द जैसा फल दे सके। संसार के सभी धर्म परमार्थ का रास्ता बतलाते हैं। परमार्थ के विशाल मार्ग पर हम तभी बढ़ सकते हैं जब कि स्वार्थ की सँकरी गली का त्याग कर दें। यानी

हमेशा अपने ही बारे में न सोच कर कभी दूसरों के लिये भी कुछ सोचे। दूसरों के लिये भी कुछ करे। परोपकार ही मनुष्य जीवन का सच्चा सौन्दर्य है। मैथिलीशरण-गुप्त ने कहा है –

> आभूषण नर देह का बस एक भर उपकार है।
> हार को भूषण कहें, उस बुद्धिको धिक्कार है॥

जिसने परोपकार का मीठा फल चखा है वही जान सकता है कि, इस फल में कितनी मिठास है। घर में सिर्फ चार रोटियाँ हैं। अचानक कोई याचक आ गया, खुद भूखे रह गये, उसका सत्कार किया। यही परमार्थ है। यही धर्म है। यही कर्म है। यही हमारा यज्ञ है। न्यायोचित परिश्रम द्वारा प्राप्त थोड़ी सी वस्तु का दान बड़े बड़े यज्ञों से भी श्रेष्ठ है। जैसा कि अश्वमेघ यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर आधा शरीर जिसका सुनहला था उस नेवले ने महाराज युधिष्ठिर से कहा कि – "राजन्! आपका यह यज्ञ कुरुक्षेत्र निवासी उच्छवृत्तिधारी उदार ब्राह्मन के सेर भर सत्तूदान के बराबर भी नहीं हुआ है।" युधिष्ठिर ने कारण पूछा तो नेवला कहने लगा – "कुरुक्षेत्र में एक ब्राह्मण रहते थे। वे अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्र-वधू के साथ रहकर तपस्या में संलग्न रहते थे। उच्छ वृत्ति (फसल के काट लेने पर जो अनाज के दाने खेत में पड़े रह जाते हैं, उन्हें चुनकर अपने निर्वाह करने को उच्छवृत्ति कहते हैं) द्वारा अपना निर्वाह करते थे। एक बार बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। कई दिनों तक भोजन न मिल सका। एक दिन सेर भर जौ मिला उसका सत्तू बनाकर चार भागकर वे भोजन करने जा रहे थे कि, इतने में भूख से, कष्ट पाते हुये एक अतिथि ब्राह्मण आ पहुँचे। ब्राह्मण ने उस अतिथि को अपना भाग सहर्ष दे दिया। थोड़े से अन्न से उसका पेट नहीं भरा। तब पतिव्रता ब्राह्मणी ने भी अपना हिस्सा उसे दे दिया। फिर भी वह भूखा ही रहा। माता-पिता को धर्म पालन करते देख, बेटा बहू ने भी क्रमशः अपना भाग दे दिया। वह तृप्त होता हुआ आशीर्वाद दे, चला गया। भूखे को तृप्त करके उस परिवार ने महान् दान किया। वह कितना महान् त्याग था जिसके पुण्य के समान अभी तक किसी यज्ञ का पुण्य मुझे नहीं दिखाई दिया। क्योंकि जब मैं अपने बिल में से भोजन की खोज में वहाँ पहुँचा सो वहाँ तब भी कुछ कण पड़े थे जिनसे मुँह लगाते ही मेरा मुँह, तथा उस स्थान पर लोटने से जो जो कण मेरे शरीर में लग, उनसे मेरा आधा शरीर सोने का हो गया। पूरा का पूरा सोने का बनाने के लिये मैं अनेक यज्ञस्थलों में जाकर लोटता हूँ परन्तु अभी तक मेरी मनोकामना पूरी नहीं हुयी। महाराज आपके महान् यज्ञ का भारी शोर सुनकर आया था। सारे यज्ञस्थल की धूल छान डाली, फिर भी मेरा शरीर सोने का न हो सका।

मनुष्य होकर भी हम परमार्थ के रास्ते पर न चल सके, तो हमारा जीना ही बेकार है। जीने का क्या, श्वान और सूकर भी जी लेते हैं। मनुष्य तो वही कहलाता

है जो दूसरों के लिये जिये, दूसरों के लिये मरे। चंदन को देखिये, खुद घिसता है और दूसरों को सुगंध देता है। दीपक स्वयं जलता है और संसार को रोशनी देता है। वृक्ष-सर्दी, गर्मी और बरसात सहकर तपस्वी की तरह एक आसन में खड़े रहते हैं और दुनिया को फल, छाया और लकड़ी का दान करते हैं।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः
परोपकाराय सतां विभूतयः॥

लेकिन यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि सांसारिक कर्म तो मनुष्य को बंधन में बाँधते ही हैं, शास्त्र विहित कर्म भी (फल की आसक्ति रख कर किये जाने पर) बंधन का ही कारण होते हैं। हम तपस्या इसलिये करते हैं कि, हमें स्वर्ग मिले। हम ठाकुर जी की पूजा इसलिये करते हैं कि हमारे पुत्र जन्म हो। हम दान इसलिये करते हैं कि हमें धन और यश मिले। हालांकि ये सब शास्त्र विहित कर्म हैं लेकिन सकाम होने के कारण सुख दुख के बंधन में बाँधने वाले हैं।

वेद के अनुसार कर्म तीन भागों में बाँटा गया है। १– कर्म। २– विकर्म ३– अकर्म।

१–कर्म –वेद द्वारा प्रतिपादित शरीर, इन्द्रिय, मन से किया हुआ काम कर्म कहलाता है। यह कर्म दो प्रकार का है – १–सकाम २–निष्काम।

सकाम–जो कर्म फल को लक्ष्य रखकर किये जाते हैं, उन कर्मों को सकाम कर्म कहा गया है।

निष्काम–फल को लक्ष्य न रख कर अपने आराध्यदेव की प्रसन्नता के लिये किया जानेवाला कर्म, निष्काम कर्म कहलाता है।

२–विकर्म–वेद द्वारा निषिद्ध शरीर, इन्द्रिय, मन से किया हुआ कर्म, विकर्म कहलाता है।

मनुष्य की जब बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है अथवा जब मानव परिस्थियों के वश लाचार हो जाता है, उस समय, वह जुआ चोरी, मदिरापान, वेश्यागमन छल, कपट धोखा, बेईमानी, मारधाड़, हत्या आदि करने लगता है। विकर्म करनेवाला अपने ही द्वारा अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारता है। वह ऐसा मार्ग पकड़ता है जिसमें अन्धेरा ही अन्धेरा है, ठोकर ही ठोकर है, दुख ही दुख है।

३–अकर्म–इन उपर्युक्त दोनों का ही न करना अकर्म कहलाता है। अर्थात् किसी प्रकार का काम ही न करने को अकर्म की संज्ञा दी गयी है। उसे आप निष्कर्म भी कह सकते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब हम आगे बढ़ आये हैं कि, एक क्षण भी हम कर्म किये बिना नहीं रह सकते तो निष्कर्म कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यही है कि, जब हमें आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब हम स्पष्ट देखते हैं कि, हम कर्म नहीं कर रहे बल्कि हमारे सकाश से इन्द्रियां इन्द्रियों के अर्थ में बरत रही हैं। इस प्रकार ऐसे काम होते हुए भी हम निष्कर्म या निष्क्रिय हैं। जैसे सूर्य स्थिर होने पर हिलते हुए जल में अपनी अस्थिरता का प्रतिबिम्ब देता है। अतः ब्रह्म जो स्थिर है, न कहीं जाता है, न कहीं आता है, आनन्दमय है फिर भी देह के कारण आता जाता सुख दुःख भोगता प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त कर्म के तीन उपभेद भी प्रतिपादित किये गये हैं।

१–क्रियमाण कर्म २–संचित कर्म. ३–प्रारब्ध कर्म।

१ क्रियमाण कर्म–समझकर मानव मृत्यु तक "मैं करता हूँ" इस प्रकार की अहम् भाव की बुद्धि रखता हुआ आनन्द प्राप्ति के लिये शुभ या अशुभ जो जो कार्य करता है वे कार्य क्रियमाण कर्म कहलाते हैं।

इस प्रकार के कर्मों के करने में मानव पूर्ण रूपेण स्वाधीन है। परन्तु यह बात अवश्य है कि, चित्त पर पड़े हुए संस्कार उसको तदनुरूप कर्म करने के लिये ललचाते हैं। अशुभ संस्कार अशुभ कर्मों की ओर बढ़ावा देते हैं। ऐसा होने पर भी मानव उस लालच में पड़े या न पड़े, पूर्ण स्वतन्त्र है। इसका आधार है निश्चयात्मक बुद्धि। यों कहिये जिसका निश्चय जितना दृढ़ होता है, वह मनुष्य प्रलोभनों से उतना ही परे रहता है। विपरीत इसके ढीले ढाले निश्चय वाला मनुष्य ललच जाता है, और पराधीन हो जाता है। सत्संग, सदाचार और सत्यनिष्ठा जिसमें रहती है वे नहीं ललचाते। संचित कर्मों में वे कर्म संचित ही नहीं होने जो, या तो अबोध बालक द्वारा या ज्ञानी (आत्मज्ञानी) द्वारा किये जाते हैं क्योंकि इनसे होनेवाली क्रिया कर्तापन के अभिमान तथा फलाशा से रहित होने के कारण इनकी गणना कर्मों में नहीं होती। अतः भुने हुये बीज के समान उनमें भावी अंकुर ही नहीं निकलता इसलिये संचित नहीं होते।

२–संचित कर्म–क्रियमाण कर्म नित्य ही होते रहते हैं। उनमें से कुछ तो उसी समय फल दे देते हैं और शेष चित्त रूपी गोदाम में एकत्रित होते रहते हैं। उन्हें संचित कर्म कहते हैं। आपने अपने भोजन करने के लिए रसोई बनाई। तैयार होने पर भोजन करने बैठे और भोजन किया, इसलिये भोजन बनाने का कर्म, भोजन रूपी फल देकर समाप्त हो गया। परन्तु इसी समय कोई अतिथि आया और उसको आपने आदरपूर्वक भोजन कराया, तो उस कर्म का फल तुरन्त नहीं मिलता। बल्कि वह परिपक्व होने के लिये संचित कर्म में जाता है, और पाककाल में किसी अन्य देह का प्रारब्ध बनकर भविष्य में फल देता है।

३—प्रारब्ध कर्म—संचितकर्म में ढेर के ढेर कर्म इकट्ठे होते जाते हैं और वह काल तक वहीं पड़े रहते हैं। उनमें जो कर्म जिस जन्म में फल देना प्रारम्भ कर देता है उसको प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

संचय में पड़े हुये कर्म की गति भी बड़ी विचित्र होती है। उनमें से कुछ ऐसे होते हैं कि एक ही कर्म का फल भोगने के लिये जीव को एक से अधिक देह धारण करने पड़ते हैं। दूसरे कुछ ऐसे भी कर्म होते हैं कि एक ही देह में अनेक कर्मों के फल भोग लिये जाते हैं। जब वर्तमान शरीर का प्रारब्ध समाप्त हो जाता है, तब वह नाश को प्राप्त हो जाता है। और उसी समय संचित में जो–जो कर्म फल देने के लिये तैयार हुये रहते हैं उनको अलग कर लिया जाता है। इसके बाद उस भोग के अनुरूप एक या अधिक देह निश्चित हो जाती है, इस प्रकार परिपक्व हुए कर्मों का फल भोगने के लिये जो देह उत्पन्न होती है उस देह के ये कर्म प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों के फल को भोगना अनिवार्य होता है। अर्थात् इनको भोगे बिना हमारा छुटकारा नहीं हो सकता। जैसे बरसात में बड़े रसीले जामुन खाने को मिलते हैं। यह सोचकर एक आदमी ने जामुन उगाने का निश्चय किया और बरसात में एक बीज बो दिया। बीज से अंकुर निकला और बढ़ने लगा। समय आने पर वह एक बड़ा पेड़ हो गया और उसमें जामुन भी फले। उसने प्रतिदिन खूब जामुन खाये। पर रोज रोज जामुन खाने से वह उकता गया और जामुन से उसको अरुचि हो गई। वह सोचने लगा कि, इस वृक्ष पर यदि आम लगते तो ठीक था। उसने बहुतों से पूछा। परन्तु उपाय किसी ने नहीं बताया और मजाक करने लगे। एक विचारवान पुरुष ने उसको समझाया कि भाई! जामुन के पेड़ पर तो जामुन ही लगता है, दूसरा कोई फल नहीं लगता। अब आम खाना हो तो आम का पेड़ लगाओ। उस पर फल लगे तब आम खाना, तब तक तो जामुन के सिवाय दूसरा फल मिलने वाला नहीं।

इसी प्रकार जो भोग इस देह के लिये निर्माण हो गया है, जब तक इस देह में जीव है तब तक उसको भोग लेने पर ही छुट्टी मिल सकती है। भविष्य का निर्माण तो उसके हाथ की बात है। अर्थात् आम बोना चाहे तो बो सकता है अन्यथा जामुन ही है! उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि शुभाशुभ कर्म जो भी किये जाते हैं उनके परिणाम स्वरूप सुख दुख भोगे बिना छुटकारा है ही नहीं। कोटि कोटि कल्प व्यतीत होने पर भी भोगे बिना कर्म का नाश ही नहीं होता। उसके लिये देह धारण करनी ही पड़ती है और उस जन्म में भी निरन्तर कर्म करने ही पड़ते हैं। अतः यह जन्म मरण का चक्र चलता ही रहता है। हमारी बुद्धि हमें यह सोचने के लिये बाध्य कर देती है कि, इन कर्मों के जाल से कैसे छुटकारा प्राप्त कर, अखण्ड आनंद व पूर्ण शान्ति को प्राप्त करें। जब हम इस विषयपर गम्भीरतासे सोचते हैं तो हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि, प्रारब्ध कर्म तो भोग भोगने पर समाप्त हो जाते हैं। संचित कर्मों को ज्ञानाग्नि भस्म कर देती है। अर्थात् आत्म ज्ञान होने पर संचित कर्म स्वतः समाप्त हो जाते हैं। वर्तमान देह

के कर्म आत्मज्ञान होने पर नवानुत्पत्ति ही नहीं होते। जैसे कमल के पत्ते जल में रहते हुए भी पानी से लिपायमान नहीं होते। इससे सिद्ध होता है कि, आत्मज्ञान द्वारा ही कर्म बन्धन से मुक्त होकर अनन्त आनन्द व पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

तदधिगम उत्तर पूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद् व्यपदेशात्।

ब्र० सू० ४-१-१३

परमात्मा का साक्षात्कार होकर क्रियमाण और सञ्चित कर्म का क्रमश: अश्लेष और विनाश हो जाता है। क्योंकि श्रुतियों ने इसी का प्रतिपादन किया है।

आत्म-ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र उपाय यही है कि, वेदान्त शास्त्र आदि का श्रवण, मनन, निध्यासन करे। यह तभी सम्भव होता है जब अन्त:करण शुद्ध होता है। अन्त:करण शुद्धि का उपाय यही है कि फलासक्ति को त्यागकर वेद विहित कर्मों में प्रवृत्त होना।

जब यह सिद्ध होता है कि अन्त:करण की शुद्धि फलासक्ति के त्याग से ही होती है। तब वैसा करें इससे पहले आसक्ति क्या है इसे जानने के लिये आसक्ति के स्वरूप पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

आसक्ति

किसी के प्रति आकर्षण या खिचाव ही आसक्ति है जिसे मोह भी कहते हैं। जिसको जिससे जितना सुख मिलता है, उसको उससे उतनी ही आसक्ति होती है। *या जिस काम में हमें जितना सुख मिलता है उसमे हमारी उतनी ही आसक्ति* होती है। या यूँ समझ लीजिये जिससे जिस हद तक हमारा स्वार्थ सिद्ध होता है उसके प्रति हमारी उतनी ही आसक्ति होती है। कान खोल कर सुन लीजिये—ससार में कोई किसीको प्यार नही करता। सब अपने मतलब को प्यार करते हैं। कोई किसी पर नहीं मरता, सब अपने मतलब पर मरते हैं। माता-पिता की पुत्र के प्रति अथवा पुत्र की माता-पिता के प्रति, प्रीत या मुहब्बत नही बल्कि आसक्ति होती है। इसी तरह पति-पत्नी में, भाई-भाई में, दोस्त-दोस्त में प्रीत नही आसक्ति ही होती है।

जब हम किसी में कोई गुण, कोई खूबी, कोई सुन्दरता देखते हैं, तो आकर्षण होता है, यानी उसकी तरफ खिच जाते हैं। धीरे-धीरे हमें उसमे मोह हो जाता है, हम ज्यादा से ज्यादा समय उसमें लगाते हैं। एक मिनिट भी उसे आंख से ओझल नही करते। वह चीज थोड़ी देर को समझ लीजिये। एक सुन्दर स्त्री है। हमारा दावा होता है कि हम उसे प्राण से भी ज्यादा प्यार करते हैं। लेकिन सच्चाई की तह में अगर पहुँचा जाये तो वह प्रेम एक नाटक मात्र है। असल में प्रेम कुछ नही मोह है,जोकि आसक्ति का ही एक रूप है। *आप कहेंगे हमारे प्रेम को झूठा साबित कर रहे हैं।* किन्तु आप ही अपने दिल पर हाथ रख कर कहिये कि, आपकी वह सुन्दरी, सुमुखि, सुहासिनी, अगर वृद्ध हो जाय, चेचक निकल आये, लँगडी या अधी हो जाये, अथवा दुनिया से कूच करदे, तब भी आप उसी तरह प्यार कर सकेंगे? उसके साथ आप भी अपने प्राण दे देंगे? कभी नही। बडे बडे आलिंगन का दम भरने वाले, अनन्य प्रेमी, अपनी प्रेमिका की मुर्दा देख कर भागते देखे गये हैं, लाश का विकराल रूप देख कर उनका सारा प्रेम रफा दफा होता देखा गया है। पति की पत्नी के मरने पर या पत्नि को पति के मरने पर कुछ इसलिये शोक नहीं होता कि उससे प्यार है, बल्कि इसलिये कि वह सुख अब नही मिलेगा जो कि सहवास में मिलता था, जिसमें कि आसक्ति है। यानी वह आसक्ति ही रोने पर मजबूर करती है। न कि मरा हुआ पति या मरी हुई पत्नी का प्रेम।

एक सच्ची घटना है। हमारे नौजवान मित्र की नवयुवती पत्नी का देहान्त हो गया। दोनों में बेहद प्यार था। दाह क्रिया करके जब हम लोग घर लौटे तो मित्र

महाशय मारे गम के मजनू बने जा रहे थे। गिरते, पड़ते, रोते, चलाते उन्होंने कई बार हमसे कहा–" आह मेरा तो सब कुछ स्वाहा हो गया, अब मैं कैसे जिऊँगा ?" हमें मन ही मन उनकी बात पर हँसी आ गई। कुछ ही महीने बीते होंगे कि हमें कुंमकुम पत्री प्राप्त हुई, किसकी ? उन्हीं बाबवाद मिश्र की। आखिर हम बाराती बने और वे दूल्हा, शादी हो गई। आज देखते हैं दुख-शोक का नामोनिशान भी नहीं है। क्यों ? इसलिये कि अब नया खिलौना मिल गया। अब उसमें आसक्ति हो गई जो कि पुराने में थी।

इसी तरह एक पौराणिक कथा है। राजा चित्रकेतु के अनेक रानियाँ थी। लेकिन सतान एक भी न थी। राजा अत्यंत दुखी हो कर दिन बिताते थे। मंत्रियों के कहने से एक व्याह और किया। आशा थी कि अब गोद भर जायगी लेकिन नहीं भरी। कोई चारा न देख राजा ने ऋषि की शरण ली। अंगिरा ऋषि ने कहा–"राजा तू हठ करता है तो जा, तेरे संतान होगी लेकिन हर्ष और शोक को देने-वाली।

सचमुच ऋषि के आशीर्वाद से राजा के पुत्र जन्म हुआ, राज भर में खुशी छा गई। राजकुमार चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। साथ ही माता–पिता की आसक्ति भी बढ़ने लगी। प्रकृति के घूमते हुए चक्र में हर्ष के बाद अब शोक का समय आया। समय आते ही बालक भी वैसा ही बन गया। नई रानी की गोद भर जाने से पुरानी रानियाँ जल भुन कर खाक हुई जा रही थी। आखिर सौतो ने कुमार को मार डालने की ठान ली। एक रात–गोरा नन्हा फूल सा सुकुमार भोला-भाला बालक जब सोने जा रहा था तो सौतो ने दूध के बहाने जहर पिला दिया। सवेरा होते–होते राजभवन में हाहाकार मच गया। राजा रानी शोक के मारे पागल हुए जा रहे थे। उसी समय देवर्षि नारद और अंगिरा वहाँ पहुँचे। राजा रानी उनके चरणों से लिपट गए – " भगवन्, जैसे भी हो हमारे लाल को जिला दीजिये वर्ना हम सिर पटक-पटक कर प्राण दे डालेंगे।" ऋषिगण मन ही मन उनकी आसक्ति पर हँस पड़े। नारद बोले–"राजन्! जो दिखाई देता है वह शरीर आपके पास ही पड़ा है, और जो नहीं दीखता वह आत्मा कभी मरता नहीं। फिर आप शोक किसके लिये कर रहे हैं ?" परन्तु राजा रानी रोते ही रहे। नारद ने सोचा इनकी आसक्ति इस तरह तो हटने वाली नहीं है। कुछ और उपाय करना चाहिये। कमंडल में से जल लिया और मंत्र पढ़ कर छिड़का। कुमार फौरन आँखें मलता हुआ उठ बैठा। नारद ने कहा–" बेटा, अपने मा बाप से मिल, ये तेरे लिये कितने बेचैन हैं ? माता–पिता ने भी हाथ बढ़ा दिये गोदी में लेने को। कुमार ने एक बार नजर घुमा कर सबको देखा। माता पिता कह रहे थे–" आ मेरे बेटा, आ मेरे लाल', लेकिन ऋषियों के द्वारा जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया था वह जीवात्मा पीछे हटता हुआ जोर से हँस पड़ा।

"बेटा ? कैसा बेटा ? कैसे माँ बाप ? कर्म बंधन में बँध कर न जाने कितनी बार हम एक दूसरे के माँ बाप, भाई बहन, पुत्र पुत्री बन चुके है। यह सब माया है, अज्ञान है। असल में न कोई नाता है न रिश्ता। यह केवल आसक्ति ही है जो तुम्हें रुला रही है। छोड़ दो आसक्ति दुख भी मिट जायगा।" इतना कह कर चेतन चला गया। कुमार का जड़ शरीर फिर उसी तरह गिर पड़ा। राजा की आँखें खुल गईं। वह राजपाट त्यागकर वन को चला गया।

आसक्ति सिर्फ मनुष्यों को ही उलझाती है, ऐसी बात नहीं, बल्कि उसका जाल दुनिया भर में फैला हुआ है। पशु-पक्षी, कीट पतंग आदि भी उससे मुक्त नहीं हैं। यानी उसने सब जीवों को फांस रखा है। दत्तात्रेय जी ने पक्षियों की आसक्ति से भी एक अच्छा सबक हासिल किया है।

किसी पेड़ पर एक कबूतर-कबूतरी का जोड़ा रहता था। जब अंडा देने का समय आया तो नर मादा दिन भर घूम घाम कर इधर-उधर से तिनके जुटाने लगे। कपास के खेत में से रुई भी चुन लाते ताकि अंडा अच्छी तरह रहे। थोड़े दिनों में कबूतरी ने अंडे दे दिये। निश्चित समय के बाद अंडे फूटे और दो बच्चे निकल आये, बिलकुल चूहे की शक्ल के। माँ बाप सवेरे ही घोंसले से निकलते और दिन भर चुगा तलाश करते। शाम को जितना चुग कर आते, उसी में से अपने बच्चों को भी चुगा देते। कभी माँ खुद भूखी रह जाती और बच्चों का पेट भर देती। धीरे धीरे उनके पंख निकल आये और वे मोर की तरह थोड़ा थोड़ा उड़ने लगे।

एक दिन जब माँ बाप दाने की तलाश में घर से बहुत दूर निकल गए। एक चिड़ीमार ने जाल बिछा कर उन दोनों बच्चों को फांस लिया। माँ-बाप लौटे तो उन्हें अत्यंत दुःख हुआ। उन्हीं की आँखों के सामने उनके बच्चे जाल के फंदों में फड़फड़ा रहे थे। माँ से न रहा गया। उसने कहा—"हाय जब मेरे प्राणों से प्यारे बच्चे ही न रहे तो मैं जीकर क्या करूँगी ? और वह भी अपनी मर्जी से उस जाल में कूद पड़ी। चिड़ीमार खुश था। चलो दो से तीन हुए। अब अकेला कबूतर उस घोंसले में रह गया। उसने सोचा हाय जब मेरे बच्चे चले गए, मेरी प्यारी पत्नी चली गई, मेरा सब कुछ नष्ट हो गया, घोंसला सूना है, अब मैं किसके लिये जिऊँ ? और कबूतर भी खुशी से जाल में कूद पड़ा। चिड़ीमार चारों को लेकर वहाँ से चंपत हो गया। इस तरह आसक्ति के कारण कबूतर का सारा कुनबा नष्ट हो गया।

आसक्ति साधारण संसारी आदमियों को तो भरमाती ही है, लेकिन जो संसार त्याग कर—आनन्द के मार्ग पर चल पड़ते है, उन्हें भी भटकाने में कोई कसर नहीं रखती। यह दुष्टा उस समय तक पीछा करती रहती है जब तक कि कोई साधक पूर्ण सिद्धि प्राप्त नहीं कर लेता यानी पूरा ज्ञानी नहीं बन जाता। बड़े—बड़े योगियों का इसने योग भ्रष्ट कर दिया है।

ऋषभ देव विरक्त हो कर जब बन को चले गए तो उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत ने राज-पाट सँभाला। भरत में पिता के सब गुण मौजूद थे। वे प्रजा का पालन और भगवान की आराधना दोनों अच्छी तरह करते थे। उन्होंने बहुत समय तक सारी पृथ्वी पर एकछत्र राज्य किया।

ज्यों ही उनका पुत्र योग्य हुआ वे भी सब कुछ छोड़कर वन को चल दिये। जो कभी सारे भूमंडल का स्वामी था अब वन में ऋषियों की तरह कठोर तपस्या में जीवन बिताने लगा। निरन्तर जप, तप और पूजा करते-करते-उनके चित्त से रहा-सहा मैल भी प्रायः धुल गये, और उनकी बुद्धि बहुत कुछ स्थिर होकर सच्चिदानन्द स्वरूप में लग गई। ✓

संयोग की बात, एक दिन भरत आश्रम के पास की नदी में स्नान करके खड़े खड़े जप कर रहे थे। उसी समय कोई हिरनी अपने झुंड में से बिछुड़ी हुई प्यास के मारे बेहाल नदी में जल पीने आ आई। अभी पूरी तरह प्यास बुझी भी नहीं थी कि, पास ही कहीं शेर की दहाड़ सुन पड़ी। हिरनी भयभीत होकर जैसे ही उछली (गर्भवती तो थी ही) बच्चा निकल पड़ा। और नदी के बहाव में बहने लगा। उधर हिरनी ने एक गुफा में पहुँचकर प्राण दे दिये। इधर भरत ने ये सारा दृश्य देखा और दया के वश होकर उस हिरनी के मासूम बच्चे को निकाल कर अपने आश्रम में ले आये। कुछ दिनों में वह बच्चा खुद घास चरने योग्य हो गया।

यहाँ तक तो उन्होंने वही किया जो कि एक मनुष्य का कर्त्तव्य था, यानी मौत के मुँह में पड़े हुए एक प्राणी को निकाला। फिर वह खुद घास चरने में असमर्थ था इसलिये तब भी ध्यान रखना जरूरी था। लेकिन जबकि बच्चा सब तरह से समर्थ हो गया, फिर भी भरत उसे छोड़ना नहीं चाहते थे।

आसक्ति हमेशा इसी तलाश में रहती है कि कब मुझे मौका मिले और कब मैं साधक को फाँसूं? जरा आदमी चूका कि धर दबाया। यहाँ भी यही हुआ। यानी सारे भूमंडल का राज्य-वैभव त्याग कर एकान्त वन में साधना करने वाला अनासक्त भरत हिरनी के बच्चे के मोह में पड़ कर आसक्त हो गया।

वह बच्चा जब घास चरने चला जाता तो बेचैनी के साथ उसके लौटने का इन्तजार करते पूजा में से उठउठ कर देखने लगते कि कहीं चला तो नहीं गया। अपने बच्चे की तरह उन्हें चिन्ता रहती कि कहीं खो न जाय कोई मार न दे।

मनुष्य का मन भी कितना चंचल होता है। वह स्थिर बुद्धि को डिगाने के लिये हमेशा बड़े बड़े तर्क देता रहता है। भरत भी अब यही सोचते — इस बेचारे का अब कौन है? ये हमारी ही शरण है हमी इसके माता पिता हैं इसे पालना हमारा कर्त्तव्य है।

काल किसी की बाट नहीं देखता। आखिर भरत की आयु समाप्त हो गई। मरते समय उनकी आँखों के सामने वही हिरन का बच्चा था, उसी में उनका ध्यान लगा था। मन अटका था। इसलिये आसक्ति के कारण उन्हें मर कर मृग का जन्म लेना पड़ा।

भगवान बुद्ध ने भी दुःख का मूल कारण आसक्ति ही माना है। आसक्ति जितनी बढ़ती है दुख भी उतने ही बढ़ते हैं। चाहे धन में, चाहे धरती में, चाहे यश में, स्त्री में, गहनों में, कपड़ों में किसी में भी आसक्ति हो उसका फल दुःख ही होना है। क्योंकि यह सब चीजें भौतिक हैं, नश्वर हैं, नष्ट हो जाने वाली हैं।

आज संसार इसीलिये दुखी और अशान्त है कि, वह आसक्ति का गुलाम बन गया है। जैसे हमारी वस्त्रों में आसक्ति है, हम कीमती से कीमती कपड़ा खरीद कर चतुर से चतुर दरजी के यहाँ ज्यादा से ज्यादा कीमत देकर सिलवाते हैं। इस तरह एक कोट सौ-डेढ़ सौ रुपये में पड़ता है, जबकि हम हाथ के बुने सस्ते कपड़े की बंडी सिलवा कर भी शरीर को ढँक सकते हैं।

फिर इस तरह अंधाधुंध खर्च करने को पैसा आये कहाँ से ? और पैसा न आये तो शौक कैसे पूरा हो ? मजबूरन हम किसी को धोखा देंगे, किसी के साथ बेईमानी करेंगे, किसी का गला काटेंगे,तभी ज्यादा पैसा मिल सकेगा। क्योंकि दर्जनों कोट दर्जनों पेन्ट, दर्जनों कमीज, दर्जनों जूते हम तभी प्राप्त कर सकते हैं। इसी तरह अगर धन या यश में हमारी आसक्ति है, तो उसे बढ़ाने के लिये हम उचित अनुचित, भले बुरे सभी रास्ते पकड़ेंगे। यदि धरती और स्त्री में हम आसक्ति रखते हैं, यानी थोड़ी सी जमीन और एक स्त्री से हमारा मन नहीं भरता, तो हमें ज्यादा से ज्यादा धरती पर कब्जा करने के लिये, अधिक से अधिक स्त्रियों को भोगने के लिये अधर्म, अनीति का रास्ता ही अख्तियार करना पड़ेगा। क्योंकि ईमानदारी से तो उतना ही मिल सकता है जितने में हमारी गुजर बसर हो जाये।

आप बँगला भी चाहते हैं, कार भी चाहते हैं, रेडियो और टेलीफोन की भी इच्छा है। लड्डू पेड़े खाने और रेशम मखमल पहनने का भी शौक है। सोना-चाँदी और हीरा मोती की भी तमन्ना है। औरत भी नित्य नई, अगर न मिले तो पुरानी ही टीप-टाप करके रोज नई बन कर सामने आये। उसके लिये पौडर, लिपस्टिक, साबुन, क्रीम, स्नो, सैन्ट, नाखूनों की लाली और न जाने क्या क्या चाहिये ? ठीक ही है, चाहिये तो सब; लेकिन उसकी पूर्ति के लिये इतना पैसा भी तो होना चाहिये। जेब में तो वही गिने चुने चार पैसे हैं, लाये तो यहाँ से ? नतीजा यह होता है कि या तो अतिरिक्त आमदनी के लिये आप किसी की आँख में धूल झोंकते हैं या जुआ, सट्टा, हरिकार्ड, लोटरी, रेस के जरिये एक दिन में करोड़पति बनने की कोशिश करते हैं। अथवा कुछ बस न चलने पर—उन चीजों के अभाव में आपका घुटते हुए, घुलते हुए दुख, चिन्ता और अशान्ति के बीच जीवन बिताना पड़ता है।

यह बीसवीं सदी है। विज्ञान का दावा है, कि पुरानी दुनिया बहुत पीछे थी। आज मनुष्य इतना आगे बढ़ गया है कि वह चन्द्रलोक तक पहुँचने का इरादा रखता है। जल, थल और नभ के मार्ग उसकी मुठ्ठी में हैं। आपरेशन, इन्जक्शन और विजली के द्वारा बड़े बड़े असाध्य रोगों पर विजय प्राप्त करली है। ठीक है। हम भी मानते हैं कि आज आदमी बहुत आगे बढ़ गया है। लेकिन दूसरे पहलू पर भी तो नजर डालिये। उन्नति के साथ-साथ उसकी आसक्ति कितनी बढ़ गई है, वह कितना आसक्त हो गया है, कुछ ठिकाना है? अमरीका जैसा सम्पन्न देश जहां कि भोग विलास की उत्तम से उत्तम सामग्री, ज्यादा से ज्यादा सस्ता में मौजूद है, फिर भी उसकी हविस पूरी नहीं होती। सब कुछ होते हुए भी वह —"कुछ और चाहिये", इसी निन्यानवे के फेर में पड़ा हुआ है।

खान, पहनन, रहने, घूमने फिरने और भोग करने के इतने साधन होते हुए भी आज का आदमी सुख-चैन के लिये तरसता है, आखिर क्यों? इसीलिये कि वह बेहद आसक्त हो गया है। उसने अपनी जरूरतों को इतना बढ़ा लिया है कि वे बार-बार पूरी होकर भी कभी पूरी नहीं होतीं। इसी का नाम है—घी से आग बुझाने की कोशिश करना।

हम देखते हैं कि आज लोगों में एक होड़ सी लगी हुई है,। एक बत्तीस रुपये गज का कपड़ा पहनता है तो दूसरा बावन रुपये गज का। फिर तीसरा उससे भी दो कदम आगे बढ़ जाता है। यानी वह बहत्तर रुपये गज से कम की चीज पसद नहीं करता। रुपये—दो रुपये गज वाले शायद यह समझते हैं कि, वह आदमी कितना शानदार कपड़ा पहन रहा है, कितना सुखी होगा। लेकिन वे भूलते हैं कि, उससे भी ऊँचा कपड़ा पहनने वाले हो सकते हैं। क्या राजा महाराजा आदि से वह टक्कर ले सकता है? उनके वस्त्रों में तो हीरे-मोती जड़े जाते हैं फिर उसे सुख कैसा, दुख ही होगा, वह जब तक वैसे कपड़े न पहनेगा। यह आसक्ति का ही एक रूप—तृष्णा है और तृष्णा का कभी अंत नहीं होता। जैसा कि महात्मा कबीर ने कहा है—

माया मरे ना मन मरे, मर मर जाय शरीर।
आशा-तृष्णा ना मरे, कह गये दास कबीर॥

शास्त्र मे भी कहा गया है—रंक राजा बनना चाहता है, राजा सम्राट, सम्राट्—चक्रवर्ती और चक्रवर्ती इन्द्र बनने की कामना करता है। यानी तृष्णा का छोर है ही नहीं। आज दुर्भाग्य से हम उसी बीमारी का शिकार हो रहे हैं। कमला कॉलिज में पढ़ती है। उसके लिये तीस दिन म इकत्तीस साड़ियाँ चाहिये ताकि वह हर रोज नई नई साड़ियाँ बदल कर लड़का के नय नय भूषा से लोहा ले सके। गोली मारो रेडियो को अब तो टेलीविजन चाहिये। पखेकी कोई जरूरत नहीं कमरा एयरकडीशन्ड हो। कोई ऐसा हवाई जहाज बने कि पाँच ही मिनिट में बम्बई से कलकत्ता पहुँचा दे।

आज दुनियामें कुछ ऐसे ही विचारों का एक बवंडर सा उठा हुआ है। लोग पागल की तरह अंधाधुंध बढ़े चले जा रहे हैं। बढ़ना ठीक है, मान लिया, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि आप बढ़ने के फेर में, आगे क्या है यह न देख कर, खंदक-खाई में उ गिरें। यह तो कोई तरक्की नहीं हुई। अगर इसी का नाम तरक्की है, इसी का ना सफलता है, तो बस हद हो गई अक्लमंदी की। यह तो वही बात हुई कि—एक राजा थ उसने किसी महात्मा को अपना खजाना दिखाते हुए कहा—" देखिये महाराज, मे पास कितने कीमती-कीमती रत्न हैं।" महात्मा ने पूछा—"राजन्! ये तुम्हें क्या देते हैं।" राजा बोला—"देंगे क्या महाराज, उल्टी इनकी हिफाजत में चार पहरेदार रखने पड़े हैं।" महात्मा जी हँस पड़े, बोले—' राजा चल मैं तुझे इससे भी कीमती रत्न दिखाता हूँ। वे राजा को लेकर एक विधवा स्त्री के घर पहुँचे और चक्की की तरफ इशारा करते हुए बोले—"देख राजा, ये उससे भी कीमती रत्न है।" राजाने अचरज के साथ कहा- "क्या कह रहे हैं भगवन् ? ये तो चक्की के पाट हैं, पत्थर हैं?" महात्मा बोले—"ठीक है ये पत्थर ही हैं,लेकिन तेरे उन पत्थरोंमें लाख दरजे अच्छे हैं जोकि किसी गरीब का पेट पालते हैं, तुझे तो उन पत्थरों पर उल्टा खर्च करना पड़ता है। तिस पर भी रात दिन यही चिन्ता रहती है कि कोई चुरा न ले जाये।"

प्रश्न उठ सकता है कि, बिना आसक्ति के, बिना तृष्णा के संसार इतनी उन्नति कैसे करता ? ये बड़ी बड़ी बिल्डिगें, ये मोटरें, ये मशीनें, ये कल-कारखाने, ये बिजली-घर, ये बांध, ये तोप, टैंक, मशीन गन और उद्जन (हाईड्रोजन) जैसा भयानक बम कैसे बनता ? आसक्ति और तृष्णा तो होनी ही चाहिये।

हम कहते हैं कि बिलकुल गलत है यह विचार। "आवश्यकता आविष्कार की जननी है ?" लेकिन हम पूछते हैं कि ऐसी आवश्यकता पैदा ही क्यों की जाये कि जिसके लिये आविष्कार करनेको मजबूर होना पड़े ? इसका तो मतलब यही होता है कि पहले तो हम कोई बीमारी फैलादें, फिर खोज करके उसका इलाज निकालें और उसके बाद सीना तान कर संसार से कहें कि हमने फलां बीमारी को मारने के लिये फलां दवा ईजाद की है। अपने हाथों पहले तो आग लगादें फिर कुआँ खोद कर दुनिया को बतायें कि देखिये, हमने जल का आविष्कार किया है।

आज हवाई जहाज में कोई मौजमजा करने के लिये नहीं बैठता, बल्कि इसलिये कि वह व्यापारी है,उसे आज ही बम्बई से दिल्ली पहुँच जाना है,वर्ना नुकसान हो जायगा। हम पूछते हैं कि उसने इतनी जरूरतें पैदा ही क्या कीं ? जिनकी पूर्ति के लिये उसे अनि-श्चित पैसा चाहिये और पैसे के लिये इस तरह भाग दौड़ करनी पड़ती है।

एक वह भी तो समय था जबकि भारतीय ऋषि नदी किनारे कुटिया में निवास करते थे, वल्कल पहनते थे, कंदमूल फल खाते थे, अथवा किसी वन में आश्रम होता था, जिसमें खेत, बगीचा और कुछ गाय बैल। निरंतर पठन-पाठन-चलता रहता था।

कितना सुख था उस छोटे से ससार मे। आसक्ति थी तो उतनी ही, जिससे अपनी गुजर बसर हो सके। न ज्यादा कमाना, न ज्यादा खर्च करना। और कोई खटराग था नही। लिहाजा सारा समय साधना में ही बीतता था। उसका फल क्या हुआ ? जानते हैं आप ? भारत ने वेद-पुराण उपनिषद्, गीता और भागवत के रूप में ससार के सामने ज्ञान-विज्ञान का अगाध भडार खाल कर रख दिया। हो सकता है कि आज के विज्ञानवादी प्रगतिशील मनुष्य अथवा कॉलेज और यूनिवर्सिटी के उच्च शिक्षा प्राप्त नौजवान इन विचारो को गला-सडा, दकियानूसी, रूढिवादी कह कर ठुकरा दें। लेकिन यह निर्विवाद है कि, हम वास्तविकता से जितने दूर होते गये, हमारा जीवन जितना कृत्रिम होता गया, हमारे रहन सहन, खान-पान, सोच विचार, बात चीत और बर्त्ताव-व्यवहार में जितनी बनावट आती गई, उतने ही हम दुखी और अशान्त होते गये।

आज हमारा जीवन सोलहो आने कृत्रिम है, बनावटी है इसीलिये हम दुख और अशान्ति के अथाह समुद्र मे गोते खा रहे है। किसी ने कहा भी है–कि सत् के पास जाना जीवन और सत् से दूर होना मृत्यु है। भले ही आज का सभ्य कहलाने वाला ससार हमारे ऋषि मुनियों को जगली कह कर उनका मजाक उडाले, लेकिन सचमुच वे दैवी सपदा युक्त थे। शुद्ध सात्विक जीवन बिताते थे। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ये पांचो तत्व जिनसे कि यह शरीर बना है, उन्हे शुद्ध रूप मे अच्छी तरह प्राप्त होते थे और वे उनका पूर्ण उपयोग तथा उपभोग करते हुए सैकडो साल जीवित रहते थे। वे स्वस्थ, सुखी-सम्पन्न, शान्त और आनन्दमय जीवन बिताते थे। इस प्रकार वे अपने जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते थे। अर्थात् वे इस शरीर से स्वस्थ रहकर इस नश्वर शरीर आदि साधनों द्वारा अविनाशी परमात्मा को प्राप्त कर कृतकृत्य होते थे। वास्तव मे इसी में मनुष्य की बुद्धिमानी है, जैसा कि शास्त्रो में कहा है –

एषा बुद्धिमता बुद्धि मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्यनाप्नोति माऽमृतम् ॥

मनुष्य की सच्ची चतुराई इस लोक के नश्वर भोगों को इकट्ठा करने मे नही है तथा बुद्धि का उपयोग भी विषयों को प्राप्त करने में नही है, परन्तु क्षण भङ्गुर और विनाशशील शरीर से जैसे बने वैसे ही शीघ्र अविनाशी और अमृत स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कर लेने में है।

ज्यो-ज्यो सभ्यता का विकास हुआ यूँ समझिये दुख का भी विकास होता गया, आज का मनुष्य पूर्ण सभ्य माना जाता है यानी वह पूर्ण रूप मे दुखी है। और दुख का एक मात्र कारण उसकी तेजी से बढती हुई आसक्ति ही है। काश ! कि हम इस कल्याणकारी सत्य को अनुभव करे और इस चमकीली मादकमयी सभ्यता की चादर को चीरकर अपने उसी रूप का, उसी वेष को अपनाये जो हमारा असली रूप है, असली वेश है। जो कि अखड आनद पूर्ण शान्ति प्राप्त करने वाले ऋषि-

मुनियों से हमें मिला है। विपरीत उनके मगर हमने अपनी बढ़ती हुई आसक्ति पर काबू न पाया, तृष्णाओं को न त्यागा, अहङ्कार पर अङ्कुश न किया तो एक दिन यह सम्भव है कि संसार में सब देश एवं दूसरे से टकरा जायें, ऐसे भयानक विश्व युद्ध छिड़े कि मानव और मानवता का नाम निशान ही मिट जाये। सारी धरती किसी राक्षस के चंगुल में फँस जाय। इससे यह स्पष्ट हो गया कि आसक्ति हमें सकाम कर्म से निषिद्ध कर्म की ओर ले जाकर अशान्त बनाती है। इतना ही नहीं यही हमारे पुनर्जन्म का कारण भी है (जैसा कि हम मुनियों के प्रसंग में पहले पढ़ चुके हैं)।

प्रश्न उठता है कि बिना आसक्ति के कर्म प्रवृत्ति बनेगी ही कैसे? इस शंका का समाधान निम्नलिखित है।

आसक्ति रहित कार्य करने वाले विरले ही महा पुरुष होते हैं। उनका अनुसरण करने वाले हजारों लाखों होते हैं। ऐसे महान् व्यक्ति का संसार में कोई भी कार्य शेष नहीं रहता। परन्तु उसे फिर भी लोक कल्याण के हेतु उसके अनुयायी अकर्मी अर्थात् आलसी न बन जावें, इसलिये सांसारिक एवं पारलौकिक कर्म करना चाहिये। क्योंकि श्रेष्ठ मानव जैसा २ कर्म करते हैं या करने का उपदेश देते हैं लोग सर्व साधारण उसी का अनुसरण करते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन.।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
गीता (३-२१)

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसी के अनुसार बरतते हैं।

मानव सामाजिक प्राणी है। उसके कर्तव्य हैं माता पिता के प्रति, पत्नि के प्रति, बालक के प्रति, मित्र के प्रति, समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति, अतएव उन कर्तव्यों का पालन करने के लिये निष्काम कर्म करना ही चाहिये। यदि वह अपने इन कर्तव्यों को न करके संसार त्याग करता है तो वह उसका दम्भ मात्र है। क्योंकि जिन्होंने उस पाला है जिनसे इसे सुख और सहयोग मिला है उन्हें सुख और सहयोग देना उसका कर्तव्य है। इन्हें त्याग करने पर भी वह पूर्ण त्याग तो कर ही नहीं सकता। क्योंकि उसे अपने जीवन को बनाये रखने के लिये किसी न किसी का ऋणी तो होना ही पड़ेगा। और कर्म तो करने ही होते हैं। परन्तु लौकिक एवं पारलौकिक कर्म आसक्ति रहित होकर उसी प्रकार करने चाहिये जिस प्रकार कि एक मनुष्य को आसक्त होकर भी उपर्युक्त कर्म करने पड़ते हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिये मनुष्य अपने पुत्र का पालन करता है। यदि वह मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर कि मेरे माता पिता ने मेरा बचपन में पालन पोषण किया था मुझे भी इसका (पुत्र) पालन करना चाहिये। इस प्रकार बिना आसक्ति के किया हुआ उसका यह कर्म निष्काम कर्म होगा।

इसके विपरीत यदि वह इस इच्छा से उसे पालता है कि, यही पुत्र बड़ा होकर मुझे सुख देगा, मेरा वृद्धावस्था में पालन करेगा, तो यह आसक्ति से किया हुआ कर्म सकाम कर्म होगा। पालन पोषण की विधि चाहे एक ही हो, परन्तु इसमें मात्र जिस भावना से कर्म किया गया है उसी के कारण सकाम और निष्काम का भेद हो जाता है।

अथवा जैसे एक आसक्ति युक्त व्यक्ति के पुत्र ने कोई ऐसा अपराध कर दिया जिसके लिये वह राजदण्ड का भागी है। उसे पता लगने पर वह व्याकुल हो उठता है। तथा तन मन धन से अपने पुत्र को राजदण्ड से बचाने के लिये भरसक प्रयत्न करता है, जिसका परिणाम भयकर ही होता है। अर्थात् वह अगर अपने प्रयास में सफल हो गया तब उसका पुत्र और भी अधिक अपराधों में प्रवृत्त हो अपने जीवन को अशान्त बनावेगा जिससे उसे (पिता को) दुःख ही दुःख होगा, और अगर वह अपने इस प्रयत्न में असफल रहा तो भी दुःख के अथाह सागर में गोते खाता रहेगा। विपरीत इसके एक आसक्ति रहित व्यक्ति के पुत्र के वही अपराध करने पर वह अपने पुत्र को अपना कर्त्तव्य समझकर राजदण्ड दिलायेगा और किंचित मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं करेगा।

इस प्रकार एक आसक्ति रहित निष्काम कर्म करनेवाला निष्कामी पुरुष अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ स्वयं आनन्द प्राप्त कर विश्व को आनन्दित करता है। ऐसे ही निष्कामी पुरुष को कर्म-योगी, कर्म-सन्यासी कहा गया है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। (गीता ६–१)

जो पुरुष कर्म के फल को न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है वह सन्यासी और योगी है और केवल अग्नि को त्यागने वाला सन्यासी, योगी नहीं है तथा केवल क्रियाओं को त्यागने वाला भी सन्यासी, योगी नहीं है।

अब यह देखना है कि किस तरह कर्म योगी बना जा सकता है। वृत्तियों के प्रसंग में हम कह आये हैं कि बहिर्मुखी वृत्तियाँ ही हमारी आसक्ति का कारण हैं जिससे चित्त चलायमान रहता है। तथा उस पर नवीन २ छाप पड़ती रहती हैं। उसीसे हम अशान्त तथा जन्म मरण के चक्कर में रहते हैं। बहिर्मुखी वृत्तियों का सम्बन्ध इन्द्रियों से है और इन्द्रियों का आधार मन है। अतएव अशान्ति के मूल कारण मन को ही निग्रह करना चाहिये जिससे चित्त स्थिर होकर आनन्द का ही अनुभव करता रहे। मन के निग्रह के दो साधन हैं।

१. योग २ भक्ति।

इन दोनों के लिये वैराग्य और निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। वैराग्य तो लौकिक और पारलौकिक विषयों से होना चाहिये तथा निरन्तर अभ्यास योग और भक्ति का होना चाहिये।

—००—

योग

योगश्चित्त वृत्ति निरोधः ।

चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है। (योग १-२)

योगी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ यथा योग्य आहार विहार निद्रा कर्म आदि करता हुआ, शुद्ध एकान्त स्थान में उपयुक्त आसन पर बैठकर, स्थिर न रहने वाले चचल मन को, सासारिक पदार्थों में विचरने से रोक कर आत्म चिन्तन में लगाता है। अर्थात् यह चिन्तन करता है कि यह दृश्यमान जगत मिथ्या है। आत्मा सत् चित् आनन्द है, परिपूर्ण है और सर्वत्र है। मन उसे जब भी अवसर पाता है भटकाता है परन्तु वह दृढ़ निश्चयी बारम्बार अपनी साधना में रत रहकर मनन प्रयत्न द्वारा चित् को निर्मल एव उसी प्रकार स्थिर बना लेता है, जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है। इसी प्रकार वह आत्मानन्द प्राप्त करता है। जिससे उसकी बुद्धि निश्चयात्मक बन जाती है अर्थात् वह भलीभांति जान लेती है कि जिस आनन्द को प्राप्त करना है वह यही आनन्द है। बाह्य जगत का आनन्द तो आनन्द नहीं था परन्तु केवल छल मात्र ही था। इसमें मन शान्त हो जाता है और सकल्प-विकल्प बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चयात्मक बुद्धि से वह परमात्मा का साक्षात्कार करता है अर्थात् अखण्ड आनन्द को प्राप्त होकर पूर्ण शान्ति की उपलब्धि करता है। सर्व व्यापी अनन्त चेतन में एक ही भाव से स्थिति रूप योग युक्त आत्मावाला योगी सब में समभाव से देखता हुआ आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में, बर्फ में जल के सदृश व्यापक देखता है। वह सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है। अर्थात् मैं जो कुछ भी हूँ मैं ही हूँ मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार ज्ञान युक्त कर्म योगी सर्व कर्म करता हुआ सर्वत्र सब काला में आनन्दमय ही रहता है। कभी भी किसी भी परिस्थिति में चलायमान नहीं होता क्योंकि उसका मन शान्त हो चुका। उसकी कामना की पूर्ति यानि अखण्ड आनन्द प्राप्त करना पूर्ण हो चुका।

उपर्युक्त चरम-स्थिति को प्राप्त कराने वाले योग का महर्षि पतजलि ने आठ अगों में वर्णन किया है। वे निम्न लिखित है –

१ यम २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार
६ धारणा ७ ध्यान ८ समाधि।

१ यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाचों को यम कहते हैं। इन पाचों की सबसे श्रेष्ठ स्थिति यह है कि जब सभी देशमें सभी समय में सभी परिस्थितियों में सभी जाति में इनका पूर्ण रूप से पालन हो। तब इनको महाव्रत कहते हैं।

२ नियम

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान इन पाचों को नियम कहते हैं।

साधक, जब यम नियम को पालन करने की भावना करता है तब मन उसे इनके विपरीत दिशा में ले जाता है। जो कि विघ्न रूप हैं। जैसे अहिंसा के पालन में हिंसा की प्रवृत्ति होती है। सत्य में असत्य की ओर प्रवृत्ति होती है इत्यादि। अत यह जानकर कि ये दु ख और अशान्ति के मूल कारण हैं,इनका त्याग करना चाहिये। क्योंकि पहले तो ये मृदु होते हैं फिर मध्य स्थिति के होते हैं। बाद में ये अधिकमात्रा में होकर राजदण्ड आदि दिलवाते हैं। इस प्रकार बारबार इनको यह विचार करके कृत (खुद करना) कारीत (दूसरो से कराना) और अनुमोदित, किसी भी प्रकार से न करे। अर्थात् न खुद ही करे न दूसरे से करायें और न ही दूसरो को करने की सहमति दे। इस प्रकार इनसे अपना पिण्ड छुडा ले और यम नियम आदि का पालन करे।

इन यम नियम आदि को मनसा, वाचा, कर्मणा से पूर्ण रूपेण पालन करने पर विशेष सिद्धि प्राप्त होती है जिनका क्रमश दिग्दर्शन कराया जाता है।

अहिंसा—मन, वाणी, शरीर से किसी को दुख न देना अहिंसा कहलाता है। इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर उस अहिंसक के सामने बिल्ली चूहे विरोधी जीव भी उसके संसर्ग से अपने परस्पर विरोधी भाव छोड देते हैं फिर औरों का तो कहना ही क्या। सत्य के पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर वह सत्यवादी वचनसिद्ध हो जाता है। जैसे किसी का वह वरदान दे देता है तो वचन मात्र से ही वह सुखी हो सकता है।

अस्तेय—में पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर उसके लिए स्वय ही सब रत्न उपस्थित हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का साधारणतया अर्थ है वीर्य का रोकना। आमतौर से लोगो का ऐसा अनुमान है कि विषय भोग न करने मात्र से ही हम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे है। पर वास्तव म ऐसा नही है। कारण कि वीर्य का पात हो जाने पर ही ब्रह्मचर्य का खण्डन हो ऐसा नही बल्कि वीर्य का अपने स्थान से किसी भी इन्द्रिय द्वारा अथवा मानसिक रूप से च्युत हो जाना ही ब्रह्मचर्य का खण्डन है। क्योंकि जो भी वीर्य अपने स्थान से डिग चुका वह निकले या शरीर में ही रहे, उसकी कोई कीमत नही। इसीलिए पूर्ण ब्रह्मचर्य वही कहलाता है जो कि मनसा, वाचा, कर्मणासे पूर्णत पालन किया जाय। अर्थात् न तो दूषित भाव से अश्लील चित्रो को देखा जाय, न अश्लील पुस्तको का पठन किया जाय न कामोत्तेजक बातो को सुना जाय न कामोत्तेजक पदार्थो का स्पर्श करना चाहिए, न सूंघना चाहिये, न उनका सेवन करना चाहिए। न ही मन से ऐसे कामोत्तेजक प्रसगो का चितन करना चाहिए। उपर्युक्त निषिद्ध प्रकारो से हमें हालांकि तात्कालिक आनन्द प्राप्त होता है, हम समझते हैं कि, भोग में आनन्द आ रहा है, परन्तु वास्तव में जो आनन्द आता है वह हमारे वीर्य (शक्ति) का ही आता है। जब ब्रह्मचर्य द्वारा

वीर्य ऊर्ध्वगति होकर ओज बन जाता है, तो जो आनन्द भोग में क्षणिक पाता है, वह आनन्द हर समय प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने पर वीर्य का लाभ होता है अर्थात् उससे मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर में अपूर्व शक्ति प्रकट होती है।

अपरिग्रह—जरूरत से ज्यादा वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। इसमें स्थिरता हो जाने पर पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है।

शौच—शरीर के शौच (शुद्धता) की प्रतिष्ठा हो जाने पर स्वयं के शरीर से भी ग्लानि हो जाती है कि यह कितना गंदा है। अर्थात् उसमें (शरीर में) आसक्ति नहीं रहती। मानसिक शौच प्रतिष्ठित अर्थात् चित्त की शुद्धि हो जाने पर चित्त में स्वाभाविक प्रसन्नता बनी रहती है, जिससे एकाग्र होकर के वह आत्मसाक्षात्कार करने योग्य हो जाता है।

सन्तोष—तृष्णा के अभाव को संतोष कहते हैं। अर्थात् जो कुछ स्वभावतः प्राप्त हो जाए उसी में आनन्दित रहना। संतोष की प्रतिष्ठा होने पर सर्वोत्तम शुद्ध सात्विक सुख की प्राप्ति होती है।

तप—के प्रतिष्ठित होने पर पाप और इन्द्रिया के मल नष्ट हो जाते हैं और इससे इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है। अर्थात् वे दूर की ढकी हुयी तथा सूक्ष्म चीजों को देख सकता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द को सुन सकता है, दूर से दूर तक का गंध ले सकता है। पशुओं में इन्द्रिया का पूर्ण विकास नहीं होता। मानव शरीर में उनका पूर्ण विकास होता है, तथा तप के द्वारा वे पूर्णता की स्थिति में आ जाती हैं। इन्द्रिय संयम, उपवास, व्रत आदि से तप की सिद्धि होती है।

एक बार एक गुरु और शिष्य प्रातःकाल जा रहे थे। शिष्य ने पूछा—"गुरुदेव कितनी दूर चलना है।" गुरु ने कहा— "अरे वह सामने जो गांव दीख रहा है वहीं जाना है।" शिष्य ने कहा— " गुरुदेव मुझे तो कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है।" वे चलते रहे और चलते चलते शाम को एक गाँव कुछ दूरी पर धुंधला सा दिखाई पड़ा। गुरू ने कहा —" देखो हलवा और पूड़ी की सुगन्ध आ रही है।" शिष्य ने फिर आश्चर्य से कहा—" मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं पड़ता।" आखिर वे वहां पहुँच गये। देखा कि साधुओं का भंडारा चल रहा है। हलवा और पूरी परसी जा रही है। उन्होंने बड़े प्रेम से कहा—" आइए गुरुदेव ! " और उन्हें आसन पर बैठाया। ज्योंही गुरुदेव आसन पर बैठे कि उन्होंने कहा —" अरे भाई मुझे हड्डी पर कहाँ बैठा दिया। " उन्होंने कहा—" अरे गुरुदेव यहाँ तो कहीं भी हड्डी नहीं है।" आखिर जब आसन हटाकर मिट्टी खोदी गई तो बहुत नीचे हड्डी के टुकड़े मिले। जब उन्हें हलवा पूड़ी परासी गयी, तब हलवा खाते ही गुरू ने कहा—"अरे भाई यहाँ हलवा में नीम की पत्ती डालने का कबसे रिवाज हो गया।" वे सब बड़े अचरज में पड़े। पता करने पर मालूम हुआ कि दो तीन पत्तियाँ उड़कर वहीं से हलवे में पड़ गयी थीं। उन्होंने क्षमा माँगी।

लौटते वक्त शिष्य ने पूछा–" गुरुदेव बडे आश्चर्य की बात है कि आपने इन सब का कैसे पता लगालिया।" उन्होने कहा–" बेटा हमारी इन्द्रियों पर जो मल जमे हुये हैं उनके कारण हम उन चीजो का देख, सुन आदि नही सकते। तप द्वारा मल जब हट जाता है तब ये सब कार्य आसान हो जाते है। इनमे कोई भी विशेषता नही रह जाती।

स्वाध्याय–इष्ट देवता के मन्त्र जप आदि स्वाध्याय रूप की प्रतिष्ठा होनेपर इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।

ईश्वर प्रणिधान–ईश्वर उपासना प्रतिष्ठित हो जाने पर (उसका विशेष वर्णन भक्ति के प्रकरण मे करेंगे) समाधि की सिद्धि होती है। यह योग का सबसे अन्तरग साधन है।

३ आसन–जिसमे स्थिर होकर सुखपूर्वक चिरकाल तक बैठा जा सके उसे आसन कहते हैं। इस आसन की सिद्धि शरीर को निष्क्रिय अर्थात् सब प्रकार के चेष्टा से रहित कर परमात्मा मे मन का लगाने से होती है। आसन की सिद्धि हो जाने पर शीत उष्ण आदि द्वंद्वों का आघात नही होता।

४ प्राणायाम–आसन सिद्ध हो जाने पर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम मुख्यत तीन प्रकार का होता है–१ कुम्भक २ रेचक ३ पूरक। विधिपूर्वक एक नासिका से स्वांस को धीरे धीरे बाहर निकालने का नाम रेचक है। और बाहर ही उसको रोक देने का नाम बाह्य कुम्भक है। धीरे धीरे दूसरी नासिका से स्वास अन्दर लेने का नाम पूरक है तथा अन्दर स्वास भर के रोक देने का नाम अन्त कुम्भक है। इसकी सिद्धि होने पर ज्ञान पर जो कर्म सस्कार आदि का आवरण होता है वह क्षीण होता जाता है तथा धारणा शक्ति बढ जाती है। अर्थात् प्राण का निरोध हो जाने पर मन का भी निरोध हो जाता है।

५ प्रत्याहार–इन्द्रियो को उनके विषय से हटाकर मन मे लीन करने का नाम प्रत्याहार है। इसके सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ सवदा अपने बस में हो जाती है।

इन पाँचो को बहिरग कहते हैं।

६ धारणा–चित्त को किसी एक ध्येय मे स्थिर कर देने का नाम धारणा है।

७ ध्यान–उस ध्येय म तदाकार वृत्ति होने का नाम ध्यान है। अर्थात् जिसका ध्यान कर रहे हैं उसी का ध्यान रहे।

८ समाधि–ध्यान करते करते जब बिलुल ध्येय आकार वृत्ति तल्लीन हो जाती है अर्थात् ध्याता (अपना) और ध्यान का भी भान नही रहता। केवल ध्येय मात्र का ही प्रकाश होता है। उसी को समाधि कहते हैं।

इन तीनो को अन्तरग कहा गया है।

इन तीनों को (धारणा, ध्यान और समाधि) मिलाकर संयम कहते हैं। इस संयम पर विजय प्राप्त कर लेने से बुद्धि में विशेष प्रकार की चमक आ जाती है। अर्थात् अलौकिक प्रज्ञा-शक्ति प्राप्त होती है। जैसे कि योग दर्शन में कहा गया है।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः (पातञ्जल योग दर्शन ३-५)

इसी प्रज्ञा के द्वारा आत्म साक्षात्कार करके अखण्ड आनन्द और पूर्ण शान्ति की प्राप्ति होती है।

सारांश यह है कि अहिंसा से समत्व बुद्धि होती है। मानसिक शौच से चित्त निर्मल होता है। तपसे इन्द्रियाँ पूर्ण विकसित होती हैं। आसन द्वारा मन परमात्मा में लग जाता है जिससे शारीरिक शीत-उष्ण आदि प्रतीत नहीं होते। प्राणायाम से वह (मन) निरुद्ध हो जाता है। प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से वापस लौटा कर मन में लीनकर देते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा विषयों में बिखरी हुयी मन की बहिरंग वृत्ति अन्तःकरण में स्थापित हो जाती है। अन्तर्मुखी मन को अभीष्ट ध्येय में धारणा द्वारा स्थिर करते हैं। बार बार ध्यान द्वारा उसी ध्येय में वृत्ति को प्रवाहित करते हैं। फिर ध्येयाकार वृत्ति समाधि के द्वारा तद्रूप हो जाती है। अर्थात् वह अपने को तथा अपनी क्रिया को भूल जाता है। एक मात्र ध्येय ही ध्येय रहता है। संयम के सिद्ध हो जाने पर उसकी बुद्धि में विशेष प्रकाश होता है जिसके द्वारा वह अखण्ड आनन्द व पूर्ण शान्ति प्राप्त कर लेता है।

—oo—

भक्ति

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा (नारदभक्तिसूत्र)

परमेश्वर में परम प्रेम को भक्ति कहते हैं।

सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र)

ईश्वर म परम अनुराग को भक्ति कहते हैं।

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकता गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।। ॥ (भक्तिरसायन)

भगवान के कल्याणकारी दिव्य गुणों और शक्तियों को सुनकर तथा उसकी झलक पाकर जब मन की वृत्ति पिघल जाती है और सर्वेश्वर भगवान में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने लगती है, तो उस भगवदाकार वृत्ति प्रवाह को ही भक्ति कहते हैं।

साधारणतया प्रेम शब्द का अर्थ होता है प्रिय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। प्रिय का अर्थ है प्यारा। प्यार हम उससे करते हैं जिससे हमें सुख आनन्द मिलता है या मिलने की आशा है।

रस (आनन्द) दो प्रकार का होता है। १ लौकिक २ अलौकिक अर्थात् सासारिक और ईश्वरीय । लौकिक रस इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है।

प्रत्येक इन्द्रिय पृथक पृथक रस प्राप्त करती है। सासारिक पदार्थों द्वारा प्राप्त होनेवाले रस को लौकिक रस कहते हैं। इनके द्वारा जो जो लौकिक रस प्राप्त होता है उसमे मन जल्द ही तृप्त हो जाता है। इसलिए जैसे ही मन तृप्त होता है कि जो वस्तु रस देने लगी थी उससे अरुचि होने लगती है। वह फिर दूसर की इच्छा करने लगता है। जैसे एक ही रूप को बार बार देखने में, एक ही सुगंध को बार बार सूंघने में तथा एक ही चीज को बार बार खाने में, वह रस नही रहता जो प्रथम बार में आया था। धीरे धीरे वह घटने लगता है। यहाँ तक कि बाद मे बिल्कुल नीरस हो अरुचि पैदा करने लगता है। इससे सिद्ध होता है कि सासारिक पदार्थों मे एकसा रस नही होता। तथा दूसरे की इच्छा होने के कारण यह भी सिद्ध होता है कि वह पूर्ण नही । सासारिक पदार्थ परिवर्तनशील हैं इसलिए उनसे जो रस प्राप्त होता है वह अस्थिर होने के कारण घृणा तक का कारण बन जाता है। जैसे नव विकसित गुलाब का फूल सौन्दर्य और सुगंध प्रसाधन की एक अति उत्तम सामग्री है लेकिन वही फूल जब कुम्हला जाता है, तो उसकी

सारी सुन्दरता व सुगन्धि नष्ट हो जाती है और उसे फेंक देने की इच्छा होती है। मद वायु सुख देती है लेकिन वही जब बहुत तेज चलती है तो भी दुःख का कारण बन जाती है, और बिल्कुल न चलने पर भी। इसलिए लौकिक रस को अपूर्ण व क्षण भंगुर कहते हैं।

अलौकिक रस ईश्वर से प्राप्त होता है। श्रुतियों ने कहा है—रसो वै सः।

अर्थात् ईश्वर रस स्वरूप है। वह पूर्ण है, नित्य है और एक रस है। जितना भी उस रस का पान किया जाय कभी उससे अरुचि पैदा नहीं होती बल्कि ज्यों ज्यों उसका रसास्वादन करते हैं त्यों त्यों उसे और भी पाने की तीव्र उत्कण्ठा होती है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा मन की वृत्तियाँ उसी ओर लग जाती हैं।

भगवान के प्रति भक्ति या प्रेम की प्राप्ति पूर्व जन्म के संस्कारों से, भक्तों का संग, भक्ति शास्त्रों का अध्ययन, भगवान के दिव्य गुणों के श्रवण इत्यादि से होती है।

भक्ति के नौ प्रकार माने गये हैं। उसी को "नवधा" भक्ति कहते हैं।

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वंदन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥

अर्थात्—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दासभाव, सखाभाव और आत्मनिवेदन।

इस नवधा भक्ति के किसी भी एक प्रकार की भक्ति करके अपने आराध्य देव को प्राप्त किया जा सकता है। जैसे कि नीचे दिये गये श्लोक में अपने अभीष्ट को प्राप्त करनेवाले नौ प्रकार के भक्तों ने अपनी अपनी भक्ति से आराध्यदेव की प्रसन्नता प्राप्त की है।

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लाद स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मी पृथु पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

अब प्रश्न यह उठता है कि भक्ति किसकी की जाये? धर्म के प्रसंग में हम पहले ही बता आये हैं कि—हर एक देश में कोई न कोई महापुरुष, महात्मा ऐसा होता है कि जिससे अनेक गुण रहते हैं, जो मुक्त-मुक्त से मुक्त आनन्दमय होता है, तथा अपने धर्मा-चरण से धर्म की स्थापना करता है, भक्ति उसी की करनी चाहिये। राम, कृष्ण, बुद्ध, तीर्थंकर, गुरु, ईसा, मोहम्मद, कोई बड़ा संत या फकीर हमारा इष्टदेव हो सकता है। यहाँ तक कि हम उनके चित्र, उनकी मूर्ति, उनके किसी भी प्रकार के आकार से लगन लगा सकते हैं। भावना होनी चाहिये। कंकर भी शंकर बन सकता है।

शंका होती है कि जब हमारा लक्ष्य अखण्ड आनन्द प्राप्त करना है फिर महा-पुरुषों और उनके प्रतीकों में लौ लगाने की बात कैसी? क्यों न हम उसी सच्चिदानन्द स्वरूप की भक्ति करें जो कि हमारा एक मात्र लक्ष्य है?

यह सही है कि लक्ष्य हमारा यही है लेकिन, सच्चिदानद स्वरूप तो निर्गुण-निराकार है। वेदों ने भी उसे नेति-नेति कह कर पुकारा है, यानी उसकी कोई सीमा, कोई अंत नहीं है।

वह बिना आँखों के देखता, बिना कानों के सुनता और बिना पाँवों के चलता है।

अपाणिपादो जवनोग्रहीता, पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः।
सवेत्तिवेद्य न च तस्यास्तिवेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुष महान्तम् ।।

जिस का कोई रूप-आकार ही नही – ऐसी हालत में उसकी भक्ति कैसे की जा सकती है और वह भक्ति निभ कैसे सकती है?

एक इंजिनियर को बिल्डिंग बनाने से पहले उसका नक्शा तैयार करना पड़ता है, इसी तरह एक चित्रकार को चित्र बनाने से पहले उसका खाका (आउट लाइन) खींचना होता है, कोई मास्टर बिना मानचित्र (नक्शे) के विद्यार्थी को दुनिया का ज्ञान कराना चाहे तो वह भी बिलकुल असम्भव है। यहाँ तक कि किसी सवाल की जिसकी संख्या न मालूम हो उसको हल करने के लिये भी हमें मानना पड़ता है कि संख्या सौ थी या एक थी। इसलिये–मूर्ति, चित्र या किसी आकार का होना अनिवार्य है वर्ना भक्ति हो ही नही सकती। मन जो कि जन्म जन्मान्तर से बाहरी विषय की ओर ही दौड़ता चला आ रहा है इसी में रम लेता आ रहा है। जब तक कि उसके टिकाने के लिए उस विषय से भी अधिक रस वाला आनन्दमय साकार रूप न होगा वह टिक ही कैसे सकता है। कोई न कोई परमात्मा का स्थूल रूप प्रतिमा या चित्र होना ही चाहिए। इसीलिए हम परमात्मा के कोई भी साकार रूप को अपना अराध्य बना सकते हैं। अनि-वार्य तो यह है कि हम उसमें परमात्मा के समस्त गुणों को देखते हुए अनन्य भाव से उसकी आराधना करें। ऐसा चिन्तन करे कि तेरे सिवाय मेरा कोई और नही है। ऐसा न हो कि आज शिव जी, कल गणेश जी, परसों हनुमान का ध्यान हो।

जब यह सिद्ध हो गया कि सच्चिदानन्द स्वरूप से महापुरुषों के रूप में, तथा महापुरुषों से उनके प्रतीक के रूप में ही भक्ति की जा सकती है तो सवाल यह उठता है कि उन कट्टर भक्तों की, उन धर्मान्ध नमाजियों की, उन प्रार्थना के पक्के प्रेमियों की आसक्ति क्या नही छूट जाती जो कि निष्ठा पूर्वक –नित्य नियम से मंदिर में जाकर दर्शन और पूजन करते हैं, भेंट चढ़ाते हैं, सिर झुकाते हैं, माला जपते हैं, मसजिद में इबादत करते हैं, नमाज़ पढ़ते हैं, रोज़े रखते हैं, खैरात करते हैं। गिरजे में प्रार्थनायें करते हैं,

बाइबल पढ़ते हैं, राम, रहीम और क्राइस्ट के नाम पर बड़े बड़े उत्सव मनाते, जलसे रचाते और खून की नदियाँ बहा देते हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति या प्रेम का आधार कामना का त्या ऊपर बताये हुए व्यक्तियों में से एकाध को छोड़ कर कोई भी भक्त या प्रेमी नहीं क्योंकि वे फल की कामना रखते हुए भक्ति करते हैं और जो फल की कामना र हुए की जाती है – वह भक्ति नहीं सकाम कर्म कहलाता है, जोकि कामना होने के का बंधन में बाँधने वाली आसक्ति का ही एक रूप है।

फिर आप ही बताइये आसक्ति से आसक्ति का नाश कैसे हो सकता है ? से भी कहीं मैल धुला है ? इन लोगों में तो अधिकांश वे होते हैं जिनका कि उन मेहनत करनेपर भी सफलता नहीं मिलती। जिनके सोचे हुए काम नहीं बने। अब काम पूर्ति के लिये देवता का सहारा ले रहे हैं, कोई पुत्र माँग रहा है कोई धन, कोई चाह रहा है, कोई सुन्दर स्त्री, किसी को स्वर्ग चाहिये, किसी को मुक्ति। बीमार तन्दुरस्ती, योद्धा को विजय, मूर्ख को अक्ल, पंडित को पैसा और सेठ जी को मुना की कामना है।

यानी सब इच्छुक हैं, सब झोली फैला रहे हैं, सबको कुछ न कुछ चाहिये। 'कु नहीं चाहिये मुझे, मैं तो तुमसे प्रेम करता हूँ– प्रेम ही के लिये" यह कहने वाला को विरला ही मिलेगा।

याद रखिये–आसक्ति के रोग की एक मात्र दवा है प्रेम। जब प्रेम ही उनके हृद में नहीं है, खाली ढाग ढकोसला है, तो आसक्ति का नाश कैसे हो सकता है ?

आज–'प्रेम प्रेम' चारों तरफ शोर मचा हुआ है। जिसको देखो वही प्रेम करने का दम भरता है। लेकिन वास्तव में देखा जाय तो प्रेम जैसी वस्तु कहीं भी नहीं। मोह है, आसक्ति है जिसके लिये हम प्रेम जैसा पवित्र शब्द इस्तेमाल करते हैं। संसार के बाजार में प्रेम के नाम पर मोह का व्यापार चल रहा है। हम जो कुछ खरीदते हैं उसका पैसा चुकाते हैं, जो कुछ बेचते हैं उसकी कीमत वसूल करते हैं, लेन–देन का सौदा है। तुम मुझको कुछ देते हो तो मैं तुमको कुछ देता हूँ, तुम मेरे लिये हो तो मैं तुम्हारे लिये हूँ। परन्तु प्रेम में यह सब कुछ नहीं होता। अंग्रेजी में कहा गया है–लव इज़ गॉड यानी प्रेम परमात्मा है। मुसलमानों ने भी इश्क को खुदा की तरह माना है। हमारे यहाँ तो प्रेम की महिमा का समुद्र ही लहरा रहा है। नारदसूत्र में कहा गया है–

अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपम्, अर्थात् प्रेम का स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता। वह सच्चिदानंद की तरह केवल अनुभवानंद गम्य है यानी उसका मजा सिर्फ अनुभव करके ही लिया जा सकता है। बिलकुल गूंगे के गुड़ की तरह।

प्रेम कभी कुछ लेना नही जानता उसमे तो देना ही देना है, धर्म, तन, मन, धन, प्राण और प्राण से भी प्यारी कोई वस्तु हो तो वह भी खुशी खुशी अपने प्रियतम को भेंट कर देता है। इतना ही नही देकर परम सतोष का अनुभव करता है।

इस प्रकार वह अपनी आसक्ति और कर्म ही नही अपना सर्वस्व अपने प्रियतम को समर्पित करके उनके रूप माधुर्य रूपी अखण्ड आनन्द मे अपने चित्त को डुबो देता है। इस प्रकार सासारिक सुख दुख उसे छू भी नही पाते।

उधर प्रियतम अपने प्रेमी के हृदय का हाल जानता हुआ भी लीला करने के लिये-सामने आकर कहता है-"मेरे प्यारे जो इच्छा हो सो माँग, तीन लोक का राज्य, स्वर्ग, मुक्ति, बोल क्या चाहिये।" किन्तु भक्त इस फन्दे में कब आने वाला? अक्सर वह यही कह देता है- प्रियतम, तेरे दर्शन मिल गये, मुझे सब कुछ मिल गया। इस पर भी जब माँगने का आग्रह किया जाता है ता भक्त कहता है-मेरे प्रभु, तेरी आज्ञा सिर माथे पर है, जब तू माँगने को ही कह रहा है – तो कुछ माँगना ही पड़ेगा। अच्छा तो प्रियतम, मैं यही चाहता हूँ कि सदा इसी तरह तुमसे प्रेम करता रहूँ।" देखा आपने? माँगने का कितना अच्छा तरीका है। माँगा भी तो प्रेम के बदले में सिर्फ प्रेम। यानी कोई कामना नही।

नरसिंह भगवान् के बहुत मागने का आग्रह करने पर अन्त में प्रह्लाद ने भगवान से यही मागा कि 'हे प्रभो! यदि आप कृपाकर दते ही हैं, तो यह वरदान दीजिए कि हमारे हृदय मे कभी किसी कामना का उदय ही न होवे।'

"कामाना हृद्यसरोहो भवतस्तु वरवृणे"

(श्रीमद्भागवत्)

कामनाएँ हृदय में उत्पन्न ही न हो यही मैं आपसे वरदान माँगता हूँ।

प्रेम मे एक लगन होती है ऐसी लगन कि प्रेमी न दिन देखता है न रात, न देह-गेह की चिन्ता होती है न भूख प्यास की, मैं कहाँ हूँ? क्या कर रहा हूँ? कौन देश है? कौन काल है? दुनिया क्या सोचेगी? लोग क्या कहेंगे? प्रेम की लगन सब कुछ भुला देती है। कुछ याद रहता है तो बस-- प्रियतम का नाम, प्रियतम का रूप, प्रियतम का ध्यान, अपना प्रियतम, केवल प्रियतम। प्रेम की यह उन्मत्त अवस्था होती है, प्रेमी पागल हो जाता है, कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी गाने लगता है। उस समय ससार या तो उसकी आँखो से बिलकुल ओझल हो जाता है या ससार भर प्रियतम-मय दिखाई देने लगता है। वह तो प्रेम में इतना मग्न रहता है, इतना तन्मय रहता है कि, उसे अपने योग क्षेम तक का ध्यान नही रहता। भगवान स्वय ही उसका योग क्षेम वहन करते हैं। शका होती है कि भगवान अपने भक्तो का ही योग क्षेम करते है,-

तो क्या भगवान पक्षपाती हैं ? नहीं यह बात नहीं जब तक भक्त अपने शक्ति का अपने परिवार का, अपने मित्रों का सहारा देखता हुआ भगवान से सहायता चाहता है तब तक वह लाख चिल्लाता रहे, लाख पुकारता रहे, लाख स्तुतियां करता रहे भगवान कभी नहीं आते । वे तो जब अनन्यभाव से संसार की आशा छोड़कर एक मात्र भगवान को ही पुकारता है तब वे उसी क्षण आ जाते हैं । जैसे –

द्रौपदी को जब दुःशासन निवस्त्र करने लगा तब वह धृतराष्ट्र, भीष्मपितामह द्रोणाचार्य आदि की तरफ देखती हुई भगवान् को अपनी लाज-रक्षा के लिए पुकारती रही । वहाँ से निराश होकर उसकी दृष्टि अपने पाँचों पतियों पर जमी । जब वहाँ से भी निराश हो गई तब भी वह अपनी साड़ी को हाथ में पकड़े हुए भगवान को पुकारती रही । वे नहीं आए । वे तो उस समय आए जबकि उसने दोनों हाथ उठाकर, निराश होकर उन्हें पुकारा ।

इतना ही नहीं कोई कितना ही दुराचारी क्यों न हो अगर वह अनन्य भाव से भगवान की शरण में आता है उसी क्षण वे उसे परम पवित्र बनाकर परम पुनीत कर देते हैं । जैसा कि गीता में भगवान के वचन हैं कि –

अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः

(गीता) ९–३०

चराचर ही प्रियतम मय नहीं हो जाता बल्कि वह खुद (प्रेमी) भी प्रियतम मय हो जाता है । यानी मैं ही हूँ प्रियतम । जैसे गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में तन्मय होकर यही अनुभव करने लगती थी कि हमी कृष्ण हैं ।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि महापुरुषों से या उनके प्रतीकों (मूर्ति–चित्र) आदि से ही प्रेम किया जा सकता है । सवाल उठता है कि क्या पुरुष स्त्री की भक्ति नहीं कर सकता ? या स्त्री पुरुष से लौ नहीं लगा सकती ? लैला–मजनू, शीरी-फरहाद, सोहनी–महींवाल आदि जो प्रसिद्ध प्रेमी हो गये हैं क्या उनका प्रेम–प्रेम नहीं था ? उसमें किसी तरह का स्वार्थ था ?

नहीं, उनका प्रेम–प्रेम ही था, उसमें कोई स्वार्थ नहीं था, किन्तु कमी यही थी कि जिनसे प्रेम किया गया वह स्वयं आनंदमय नहीं था और जो आनन्दमय नहीं वह दूसरे को आनंद क्या दे सकता है ? स्त्री हो या पुरुष मनुष्य से प्रेम करके तो अन्त में दुख ही उठाना पड़ता है क्योंकि वह नाशवान है । जब उसकी मृत्यु हो जाती है तो अत्यन्त प्यारा होने के कारण अत्यन्त दुख होता है । जिस प्रेम का परिणाम आनन्द न होकर दुख हो वह प्रेम ही क्या ?

महापुरुषों में प्रेम करके ऐसा नहीं होता क्योंकि वे संसार छोड़ देने पर भी आनंद मय होने के कारण अमर होते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध ईसा, मोहम्मद आदि कीर्ति के रूप में आज भी जीवित हैं। उनका नाम आज भी बच्चे–बच्चे की ज़बान पर है।

इससे आप यह न समझिये कि सांसारिक प्रेम कोई मामूली चीज है, वह भी बहुत बड़ी शक्ति है, अनेक जन्मों के पुण्यों का फल है किसी भाग्यशाली को ही मिलता है, सबके दिल में लैला मजनू की तरह प्रेम की आग नहीं होती। ऐसी लगन मनुष्य से लग जाना भी बहुत बड़ी बात है।'क्योंकि उसका रुख बदल सकता है, वह धारा मुड़ सकती है यानी किसी स्त्री या पुरुष का प्रेम भगवान् की भक्ति में परिणत हो सकता है जैसा कि बिल्वमंगल या तुलसीदास के जीवन में हुआ।

कौन नहीं जानता कि तुलसीदास ने शुरू में राम से नहीं, अपनी पत्नी रत्ना से लौ लगाई थी। रत्ना मायके चली गई, तुलसी उसका वियोग न सह सके, न सोचा न विचारा– चले पड़े ससुराल।

अँधेरी रात, मूसलाधार बरसा, नदी में बाढ़, न मांझी, न नाव, पहुँचना उस पार, बड़ी विकट परिस्थिति थी। लेकिन तुलसी तो प्रेम में मतवाले हो रहे थे, उन्हें होश ही कहां था? मुर्दे को नाव जान कर नदी पार की, सर्प को रस्सा समझकर काठे पर चढ़ गये। रत्ना उस समय सोई हुई थी गहरी नींद। कुछ देर तक तो ये चकोर के समान प्रिया का मुख चन्द्र निहारते रहे, जब जगाया और अपना प्रेम जताया तो रत्ना एक-दम भड़क उठी फटकारा बुरी तरह–

अस्थि चर्म मय देह मम, तासे ऐसी प्रीति।
तैसो ज्यों रघुनाथ मह, मिटे सकल भव भीति॥

तुलसी के ममस्थल पर एक गहरी चोट लगी, नतीजा यह हुआ कि रत्ना को छोड़ कर वे राम के परम भक्त बन गये। जिनकी भक्ति का भंडार–"राम चरित मानस" के रूप में आज भी घर-घर भक्ति की गंगा बहा रहा है।

भक्त जिस समय दुनिया का भान भूल कर–आकुल स्वर में भगवान को पुकारता है, उसके आनन्द के क्या कहने! भगवान उस समय उसके पास ही होता है। जैसे हम दूर देश में बसने वाले अपने प्यारे को जिस समय सब कुछ भूल कर सच्चे हृदय से याद करते हैं, बिलकुल उसी समय उसे भी हमारी याद आती है। इस हम आत्मा का बेतार का तार कह सकते हैं।

भक्त चैतन्य जाति बाद में महाप्रभु चैतन्य कहलाये उनके कीर्तन में भी कुछ ऐसा ही असर था।

बंगाल के नवद्वीप नगर में प० जगनाथ मिश्र की पत्नी शचीदेवी की गोद में श्री चैतन्य स० १५८२ वि० फागुन पूर्णिमा को यानी होली के दिन प्रकट

हुए। नाम करण हुआ – विश्वम्भर। किन्तु एकदम गोरा रंग होने के कारण – लोग गौरांग के नाम से पुकारने लगे। माता की ममता विश्वम्भर और गौरांग को भी भूल कर अपने लाल को निमाई के नाम से टेरने लगी। यही नाम इनका प्रसिद्ध हुआ।

पालने में झूलते हुए निमाई जिस समय रोने लगते थे– पास पड़ोस की स्त्रियाँ- '*हरि बोल, हरि बोल*' गाने लगती थीं। हरि नाम सुनते ही मारे हर्ष के ये किलकने लगते थे, कहा भी है पूत के लच्छन पालने में दिखाई दे जाते हैं।

निमाई इतने सुन्दर थे कि इन्हें देखने आनेवालों का एक मेला सा हमेशा मिश्रजी के घर लगा रहता था जो एक बार एक क्षण को भी इन्हें देख लेता–उस पर कुछ ऐसा जादू हो जाता था कि वह बार–बार देखने को उत्सुक रहता था। चंचल इतने थे कि सागर की लहर भी शरमा जाये। एक रोज तो खेलते–खेलते सर्प पर ही जा बैठे। सर्प भी झूम उठा इनका रूप देखकर।

कुछ बड़े हुए तो– न्याय शास्त्र के प्रधान विद्वान वासुदेव सार्वभौम की पाठशाला में इन्हें पढ़ने भेजा गया। थोड़े ही समय में इन्होंने बहुत सी विद्या प्राप्त करली। इनके सहपाठी का नाम था – रघुनाथ शिरोमणि।

इन्हीं दिनों–यानी सोलह वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने ऐसे महान त्याग का परिचय दिया कि जिसका कोई जवाब नहीं।

एक दिन संध्या के समय निमाई और रघुनाथ दोनों मित्र नाव पर सवार हो गंगा पार जा रहे थे। निमाई ने न्याय शास्त्र पर उन्हीं दिनों एक ग्रंथ लिखा था, रघुनाथ ने वह ग्रंथ सुनाने को *आग्रह किया, निमाई सुनाने लगे। ग्रंथ पूरा सुना कि रघुनाथ की* आंखों से आंसू निकल पड़े। निमाई ने रोने का कारण पूछा परन्तु रघुनाथ कुछ न बोल पाया। बार–बार अनुरोध करने पर उसने बड़ी कठिनाई से धीमे स्वर में कहा–बात यह है निमाई, कि मैंने भी न्यायशास्त्र पर एक ग्रंथ रचा है किन्तु, तुम्हारा ग्रंथ इतना ऊँचा है कि उसके सामने मेरी पोथी को कौन पूछेगा? मेरी मेहनत बेकार गई।"

निमाई ने मुसकुराते हुए कहा–" बस, इतनी सी बात, इसी के लिये तुम दुखी हो रहे हो? लो मेरा ग्रंथ नहीं रहा" यह कहते हुए रात–रात जाग कर वर्षों में लिखा हुआ अपना अमूल्य ग्रंथ गंगा को भेंट कर दिया। सैंकड़ा पन्ने गंगा की लहरों में लहराते हुए निमाई के महान त्याग और यश की कथा सुनाने लगे रघुनाथ ने चरण पकड़ लिये– " आप मनुष्य नहीं, देवता है, आप धन्य हैं।" बाद में उसी का ग्रंथ 'दीधिती' ही प्रसिद्ध हुआ।

निमाई पंडित अब पाठशाला खोल कर पढ़ाने लगे। उन्हीं दिनों महान पंडित दिग्विजयी को इन्होंने शास्त्रार्थ में हराया, जिससे इनको बड़ी ख्याति मिली। पहला

विवाह इनका लक्ष्मी देवी से हुआ । जिस समय निमाई पूर्व बंगाल की यात्रा पर थे पत्नी का देहान्त हो गया, पिता तो छुटपन मे ही स्वर्गवासी हो चुके थे, बडे भाई विश्व-रूप पहले ही विरक्त हो कर घर छोड गये अब घर मे केवल माता थी । कुछ दिनों बाद मा ने बहुत ज़ोर देकर दूसरा विवाह विष्णु प्रियाजी से करा दिया ।

पिता का श्राद्ध करने निमाई गयाजी में गये । यही वह समय था जबकि भक्ति का स्रोत फूट पडा, हृदय का तार कीर्तन बन कर झनझना उठा, जैसे ही इन्होंने गया मे विष्णु पद के दर्शन किये, इनकी अद्भुत दशा हो गई । लौटने समय –रास्ते भर कीर्तन करते रहे ।

हरि बोल, हरि बोल, हरि हरि बोल ।
मुकुन्द माधव गोविन्द बोल ।। ।।

घर आये तो–पढाने मे अब इनका चित्त नही लगता था–न्याय सूत्र पढाते–पढाते–हरि बोल, हरि बोल, बोल उठते थे । मजबूरन पाठशाला बन्दकर देनी पडी ।

प० श्रीनिवास के घर अब तो रोज भक्त मडली जमा होती थी और गौराग झूमझूम कर–नाच नाच कर नाम धुन लगाते थे– साथ में होते थे उनके परमप्रिय स्वामी नित्यानद–निताई ।

निमाई और निताई, भक्तो की इस जोडी ने सारे नवद्वीप में धूम मचा दी–कीर्तन की, हरि नाम की । बच्चा–बच्चा गाने लगा–हरिबोल, हरिबोल हरि हरि बोल, मुकुन्द माधव गोविन्द बोल ।

एक रात सोती हुई माता और पत्नी को छोड–गगा पार जा कर 'कटवा' गाँव मे श्री स्वामी केशव भारती से इन्होने सन्यास की दीक्षा ले ली । इनका सन्यास का नाम स्वामी श्रीकृष्ण चैतन्य भारती पडा । इसी से भक्त गण इन्हे चैतन्य या चैतन्य महाप्रभु कहते हैं । सन्यासी बनकर लौटे, माता से भेट हुई । माता ने धीरज धरते हुए सिर्फ यही कहा–"बेटा, दूर न जाकर तुम जगन्नाथ पुरी में ही निवास करो, ताकि आने–जाने वाले यात्रियो मे तुम्हारा कुशल समाचार मिलता रहे ।'

भक्त चैतन्य ने आज्ञा स्वीकार करली और पुरी को चल पडे । रास्ते भर कीर्तन चलता रहा । जिसके भी कान मे नाम-धुन पडी–वही मस्त होकर गाने लगा हरि बोल हरि बोल पुरी के मदिर में पहुँच कर जैसे ही इन्होंने जगन्नाथ जी के दर्शन किये भावावेश में मूर्च्छित होकर गिर पडे, पुजारी दग रह गये ।

कुछ दिनो बाद दक्षिण भारत और ब्रज की यात्रा की । मथुरा में पहुँचकर तो ये और भी मतवाले हो गये न तन मन की सुधि थी न खाने-पीने का होश–हरि बोल, हरि बोल रटते हुए गली–गली पागल की तरह घूमने रहे । सैकडो नर-नारी इनके पीछे हो लिये । इनकी कृष्ण-भक्ति ने ब्रजवासियों को भी चकित कर दिया ।

पुरी लौटते समय, प्रयाग ठहरे, वहाँ वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई। दोनों एक नाव पर बैठ यमुना पार जा रहे थे कि– यमुना के श्याम जल को कृष्ण समझ कर आलिंगन करने के लिये ये कूद पड़े, बड़ी मुश्किल से आचार्य ने इन्हें निकाला।

चैतन्य के हृदय में कृष्ण प्रेम और उनके विरह की आग दिनों दिन बढ़ती ही जा रही थी।

आगे चल कर तो इनकी भक्ति चरम स्थिति को पहुँच गई। जिस स्थान में ये रहते थे उसे गम्भीरा मंदिर कहा जाता है, कृष्ण के विरह में उसकी दीवारों से मुख घिसने लगते थे, जिससे रक्त तक बहने लगता था।

बार-बार निकल कर– हा कृष्ण, हा कृष्ण, पुकारते हुए भागते थे और कहीं भी गिर कर मूर्छित हो जाते थे। एक बार समुद्र में कूद पड़े और जल में मूर्छित हो गये, मछुओं के जाल में इनका देह पड़कर बाहर निकला, भक्त लोग बड़ी मुश्किल से इनको सँभाल करते, बार-बार ढूंढ-ढूंढ कर इन्हें लाते थे।

अपने जीवन में भक्त चैतन्य ने नवद्वीप के गुंडे अधिकारी जगाई मधाई, काजी, दक्षिण के नौरोजी डाकू, यहाँ तक कि जगत के हिंसक पशुओं तक से हरि नाम का प्रचार कर दिया। सहस्रों नर नारी उनके भक्त बन गये।

अन्त में एक दिन जब कृष्ण का विरह किसी तरह सह न सके तो 'हरि बोल– हरि बोल' उच्चारते हुए आंधी की तरह दौड़ कर जगन्नाथ जी के मंदिर में पहुँचे। पुजारी हक्का बक्का रह गया। देखते-देखते भक्त-भगवान की मूर्ति में लीन हो गया।

चैतन्य की वाणी आज भी घर-घर में गूंज रही है –

हरि बोल, हरि बोल, हरि हरि बोल, मुकुन्द माधव गोविन्द बोल ॥

साधु-संग की महिमा अपार है, भक्ति के प्राप्त होने में उससे बड़ी सहायता मिलती है। त्रेतायुग की बात है दण्डकारण्य में एक बूढ़ी भिलनी रहती थी। उसका नाम था – शबरी, वह जन्म से ही श्रद्धालु थी।

शबरी को एक बार मातंग मुनि के दर्शन हुए। सत्-दर्शन से उसे बड़ा आनन्द हुआ। उसने सोचा– 'अगर मुझसे कुछ ऋषियों की सेवा बन पड़े तो मेरा कल्याण होना मुश्किल नहीं।'

इसी सोच पर उसने ऋषियों के आश्रम से थोड़ी दूर पर ही अपनी कुटिया बना ली और सेवा-कार्य करने लगी। नित्य नियम से रात को तीन बजे ही उठ पड़ती, लकड़ियाँ काट कर लाती, और आश्रमों के पास ढेर लगा देती। रास्ते का सब झाड़ बुहार कर साफ कर देती ताकि ऋषियों के पाँव में कोई कांटा कंकड़ चुभने न पाये।

मातंग मुनि रोज अपने शिष्यों से पूछते–कि ये सब मेवायें कौन करता है ? लेकिन शिष्य एक दूसरे का मुँह ताकते रह जाते, वे खुद नहीं जानते थे कि आखिर मामला क्या है ।

एक दिन शिष्यों ने पता लगा ही लिया । लकड़ी लाते हुए शबरी पकड़ी गई । ऋषि ने पूछा–" देवी, तुम कौन हो ।" शबरी ने डरते हुए हाथ जोड़ कर कहा–भगवन् मेरा नाम शबरी है । मैं नीच भील जाति में पैदा हुई हूँ, और कुछ तो कर नहीं सकती, इसी तुच्छ सेवा से अपना जन्म सुधारने की कोशिश करती हूँ, महाराज, अगर कोई भूल-चूक हो गई हो तो क्षमा करें ।" शबरी के दीन वचन सुनकर मातंग ऋषि को दया आ गई । उन्होंने शिष्यों को आज्ञा दी कि–इसे आश्रम के बाहर कुटिया में रहने दिया जाये, और इसके लिये अन्नादि का भी प्रबंध कर दिया जाये ।" शबरी ने सिर झुकाये हुए ही कहा–" भगवन् मैं तो कंदमूल से ही पेट भर लेती हूँ, यह संसार असार है, मुझे यहाँ की कोई चीज नहीं चाहिये, मुझे तो कृपा कर ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि भगवान में मेरी भक्ति हो । "

कुछ क्षण सोच कर मातंग मुनि बोले– " अच्छा तो तू आनंद से रह और भगवान का जाप कर ।" शबरी अब वहीं कुटिया बना कर रहने लगी और नित्य नियम से ऋषि का उपदेश सुनने लगी जिससे उसकी भक्ति और भी बढ़ चली । एक शूद्र को आश्रय देने की बात दूसरे ऋषि–मुनियों को अच्छी नहीं लगी । उन्होंने मातंग को अपने समाज से अलग कर दिया किन्तु भक्ति का मर्म जानने वाले मातंग मुनि ने इसकी कुछ परवाह न की ।

इस तरह बहुत काल बीत गया । एक दिन जब मुनि ने देह छोड़ने की इच्छा प्रकट की तो शबरी मारे शोक के व्याकुल हो उठी, उसने कहा–" गुरुदेव, इस दासी को भी अपने साथ ले चलिये ।' ऋषि ने कहा–"सुव्रते, दुखी होने की जरूरत नहीं, तेरा भाग्य शीघ्र ही उदय होने वाला है । सच्चिदानन्द का साक्षात अवतार–श्रीराम चित्रकूट से तेरे यहाँ अवश्य पधारेंगे उनके दर्शन से तेरा कल्याण होगा । तू राम नाम का जाप करती हुई उस शुभ दिन की प्रतीक्षा कर । मुनि ने शरीर छोड़ दिया । इधर शबरी की हालत अब ऐसी हो गई कि राम के सिवाय उसे कुछ सूझता ही न था सोते–जागते, उठते–बैठते, खाते-पीते मतलब यह कि आठों पहर राम ही राम की रट लगाये रहती थी । कोई पक्षी इस पेड़ से उस पेड़ पर उड़ कर जाता या कोई मृग इधर से उधर गुज़रता या हवा चलने से पत्ते खड़क उठते तो वह मतवाली यही समझती कि मेरे राम आ रहे हैं, ये उन्हीं के चरणों की ध्वनि है । जल्दी से रास्ता बुहारने लगती, झाड़ू कहाँ ? अपने आँचल से ही , दौड़कर कंद मूल फल ले आती पत्ते और फूल चुन चुन कर आंगन बनाती, चंदन घिसती, दीप जलाती सारांश यह कि शबरी राम के प्रेम में बिलकुल बावली बनी हुई थी ।

एक दिन ऋषि–बालकों ने अचानक खबर दी–" कि अरी शबरी तेरे राम आ रहे हैं ।" अब तो शबरी के हर्ष का क्या ठिकाना ? बावली जैसे और बावली हो गई। और कुछ सूझा नहीं, पास के ही एक पेड़ से पके–पके बेर चुन लाई । ये जैसे ही लौटी तो इसने सुना भगवान राम ये पुकारते चले आ रहे हैं– " मेरी प्यारी भक्ता शबरी कहाँ है ?" " मेरे राम, मेरे राम " टेरती इधर से यह भी दौड़ पड़ी । भक्त और भगवान मिल गये । अन्यान्य ऋषि मुनि अचरज में थे कि राम हमारे आश्रमों में न आकर पहले उस नीच शबरी की कुटिया में पहुँचे ।

आज शबरी के आनन्द का पार नहीं था, वह ताली बजा–बजा कर पागल की तरह नाच रही थी । बहुत देर बाद– जब लक्ष्मण ने संकेत किया तो उस दीवानी को होश आया, वह जल्दी से उठी और बेरों की टोकरी ले आई । अहा ! कैसा भाव पूर्ण दृश्य था– शबरी चख–चखकर एक–एक बेर राम को दे रही थी और राम बड़े ही प्रेम से भोग लगाते हुए बार–बार हाथ फैला रहे थे । बेरों को वह चखती इसलिये थी कि मेरे प्रभु के कोई खट्टा बेर खाने में न आ जाये ।

राम ने अनुभव किया कि सीता और कौशल्या के हाथ के षट्‌रस व्यंजन भी इनके सामने तुच्छ हैं । प्रेम के वश होकर वे बोले–" भिलनी तेरी भक्ति ने तो मुझे जीत लिया, जो इच्छा हो सो माग, तेरे लिये सब कुछ हाजिर है । मारे भाव के भिलनी का गला भर आया, बड़ी देर तक तो उससे कुछ बोला ही न गया । राम ने फिर आग्रह किया तो बड़ी कठिनाई से–अटकते हुए ये शब्द निकले–" आज मेरी जैसी नीच भिलनी के सामने सच्चिदानंदराम खड़े हैं, इससे बढ़ कर और क्या लाभ हो सकता है ? पतित पावन, मुझे और कुछ नहीं चाहिये, बस आपके चरणों में मेरी भक्ति दृढ़ हो ।" भगवान भी गद्‌गद् होकर कह उठे ' तथास्तु ' – ऐसा ही हो । उसी समय मातंग का अपमान करने वाले ऋषि–मुनि भी वहाँ आ पहुँचे । और उन्होंने अपने अपराध की क्षमा माँगी ।

इसके बाद अपने प्रभु की आज्ञा से शबरी ने शरीर त्याग दिया और वह निष्काम होने के कारण सच्चिदानंद स्वरूप में मिल गई । मतलब यह कि भक्ति होनी चाहिये, प्रेम होना चाहिये, प्रियतम अपने आप खिंचा चला आयेगा । प्रेम में जात–पात, ऊँच–नीच का कोई भेद–भाव नहीं ।

जात–पाँत पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई ।

यं तो भक्ति की प्राप्ति में हर हालत में पिछले संस्कारों का ही हाथ होता है लेकिन वे संस्कार अगर बहुत प्रबल होते हैं तो मनुष्य हिंसक व्याध तक के घर में जन्म लेकर भी–परम भक्त बन जाता है । न कुछ पढ़ने लिखने की जरूरत है, न गुरु की, न सत्संग की । एक विशेष काल आने पर हृदय में भक्ति की निर्मल धारा अपने आप फूट पड़ती है । जैसे पहाड़ में कोई पवित्र नदी । इसके लिये भक्त कण्णप्प का दृष्टान्त काफी होगा ।

दक्षिण के किसी जगली प्रदेश मे कोई नाग नाम का शिकारी सरदार रहता था। उसका पेशा था – जहरीले बाणो से तरह तरह के जानवरो का शिकार करना। उसका तिण्ण नाम का इकलौता पुत्र-जब जवान होगया तो उसके बूढे पिता ने सरदारी का भार उसे सौप दिया।

तीर, तलवार, भाला चलाने मे होशियार तिण्ण ग्राज सरदार बनकर पहल पहल शिकार को निकला। जैसा कि उनके यहाँ रिवाज था। साथ मे थे दो नौकर। कितने ही जानवर मारने के बाद उसने एक बडे सूअर का शिकार किया। रास्ते में उन्हें बडी जोर से भूख लगी। तिण्ण ने पूछा-"कही मीठा पानी मिलेगा ?" नौकर ने बताया–उस शाल वृक्ष के पार पहाडी के पास सुवर्ण नदी बहती है। तिण्ण-बोला–"चलो वही चले।" जवान तो था ही तिण्ण के मन मे पहाडी पर चढने की इच्छा जाग उठी। नौकर ने भी जोर दिया–'जरूर चढिये, चोटी पर एक शिव का मदिर है, ग्राप पूजा भी कर सकते है।" पहाडी पर चढने की धुन में तिण्ण भूख-प्यास तक भूल गया। शिखर पर पहुँचते-पहुँचते उसके पिछले सस्कार जाग उठे। मानो भक्ति के उदय होने का समय ग्रा गया हो। तिण्ण ने नौकर से कहा–"तुमने कहा था न कि यहाँ शिव का मदिर है चलो, उनके दर्शन कर ग्रायें।"

जैसे ही तिण्ण मदिर मे पहुँचा ग्रौर उसने प्रतिमा को देखा।न जाने कौन सी शक्ति ने उसे इतना भावुक बना दिया कि, दौडकर उसने देवता को प्रेमालिगन में बाँध लिया। उसके ग्रानन्द की सीमा न रही। उसकी ग्राँखो मे प्रेम की गगा-यमुना बहने लगी। वह बोला–"मेरे प्यारे भगवान तुम इस भयानक जगल में ग्रकेले ही रहते हो ? यहाँ तुम्हारा कोई मित्र नही ?" फिर देवता के सिर पर कुछ हरे पत्ते, जगली फूल, ग्रौर जल देखकर बडे दुख से वह कहने लगा–"हाय किस नराधम ने मेरे स्वामी के सिर पर ये चीजे रखी है ? नौकर ने बताया कि मैं ग्रापके पिता के साथ कई बार यहाँ ग्राया हूँ, मैंने एक ब्राह्मण को यह सब करते देखा है। उसने देवता के सिर पर ठडा पानी डाला, फूल-पत्ती रखी ग्रौर फिर कुछ देर तक बडबडाता रहा जैसे हम लोग ढोल पीट -पीट कर ग्रपने देवता के सामने किया करते है। ग्राज भी उसने यही किया होगा।"

तिण्ण भी पूजा करने को विकल हो उठा किन्तु उसे पूजा का ढग मालूम न था। उसने सोचा–"देवता भूखा होगा क्यो न मैं पहले देवता को मास लाकर खिलाऊँ ? वह मदिर से रवाना हुग्रा लेकिन तुरत ही लौट ग्राया। कई बार उसने ऐसा किया। उसका दिल इस नई निधि का छोडने को तैयार नही था उसी प्रकार जैसे कोई गाय ग्रपने पहले बछडे को। ग्राखिर जैसे तैसे देवता से ये कहकर कि तुझे छोडने को तो जी नही चाहता, लेकिन तू भूखा होगा, तेरे लिये ग्रपने हाथ से मास पकाकर लाता हूँ।" तिण्ण चल दिया। पहाडी के नीचे पहुँचकर मास पकाया ग्रौर चख चख कर ग्रच्छा ग्रच्छा एक पत्ते मे ग्रलग रखने लगा। नौकरो ने ये सब देखकर ग्रापस में कहा "देखो तो सही ग्राज हमारे सरदार को न जाने क्या हो गया है हम भी भूखे है, वह भी भूखा

है लेकिन न खुद खाता है, न हमको खाने देता है,।" और वे दोनों नौकर खाने में को पागल समझकर उसके घर खबर देने वहां से चल पड़े। तिण्ण अपनी धुन में मस्त था न तो उसने नौकरों की कुछ बात ही सुनी न उन्हें जाते ही देखा। उसने अभि-षेक के लिये अपने मुंह में ही ताजा पानी भर लिया, क्योंकि वहां बरतन कहां था? अपने बालों में ही चढ़ाने के लिये कुछ जंगली फूल खोंस लिये, एक हाथ में मांस का पत्ता और दूसरे हाथ में आत्म-रक्षा के लिये धनुषबाण लेकर जेठ की भरी दोपहरी में जल्दी-जल्दी पहाड़ पर चढ़ने लगा।

यह सोचकर कि, देवता भूखे होंगे वह और भी तेजी से बढ़ रहा था। शिखर पर पहुंच कर जूता पहने ही वह मंदिर में घुस गया, हाथ तो रुके थे ही—उसने बड़े प्रेम से पुराने फूल पत्ते पांव से हटाये, अभिषेक के लिये ऊपर से कुल्ला कर दिया, बालों में से फूल निकाल कर चढ़ा दिये और देवता के आगे मांस का पत्ता रखकर अपनी साधारण बोली में खाने का आग्रह करने लगा।

इस तरह अंधेरा हो गया। जंगली जानवरों के बीच में देवता को अकेला कैसे छोड़ं? यही सोचकर वह धनुष बाण लिये रात भर पहरा देता रहा। ज्योंही सवेरा हुआ वह ताजा मांस लाने चल दिया।

उधर नित्य नियमानुसार ब्राह्मण पुजारी मंदिर में आया। देवता के पास मांस देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने सारा मंदिर शुद्ध किया, नदी में नहाया, पूजन किया, वेद की ऋचाओं से प्रभु की प्रार्थना की और मंदिर भ्रष्ट करने वाले को कोसता हुआ अपने स्थान को लौट गया।

इधर—तिण्ण ने आज कई जानवरों का शिकार किया और उसमें से चुन चुनकर अच्छे से अच्छा मांस पकाया और चख-चख कर एक बड़े पत्ते में रख दिया। छत्ते तोड़ कर कुछ मधु भी वह ले आया। मांस में वह मधु निचोड़ दिया। फिर कल की तरह मुंह में जल, बालों में फूल, एक हाथ में मांस, दूसरे में धनुष बाण लिये वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ पहाड़ी पर चढ़ने लगा।

मंदिर में पहुँचकर फिर उसी तरह पांवों से पुराने फूल पत्ते हटाये, कुल्ले से अभिषेक किया, मांस का भोग लगाया, और अपनी भाषा में प्रार्थना करता हुआ बोला "मेरे मालिक कल तो केवल सूअर का मांस था, आज तो बहुत से जानवरों का है वह भी खूब चुन-चखकर लाया हूँ उसमें मधु भी निचोड़ा है, ले खा।"

दिन भर शिकार करके देवता के लिये मांस इकट्ठा करना, रात भर पहरा देना तिण्ण का यही क्रम चल रहा था। इस प्रकार पांच दिन बीत गये उसको खुद को खाने-पीने का होश ही न था। वह तो भक्ति में तल्लीन था।

तिण्ण के चले जाने के बाद रोज सवेरे ब्राह्मण पुजारी आता और रात के भ्रष्टा-

बार पर विलाप करता हुआ मंदिर की शुद्धि करता । इतने दिनों तक तिण्ण के घर न लौटने से उसके घर वाले एकदम निराश होगये ।

ब्राह्मण पुजारी नित्य ही प्रार्थना करता "प्रभु, हमारे पाप क्षमा करो, ऐसा भ्रष्टाचार रोको ।" एक रात स्वप्न में परमेश्वर उसके सामने आकर बोले-हे ब्राह्मण, तुम मेरे इस शिकारी भक्त को नहीं जानते, शिकारी होते हुए भी वह प्रेम मय है, तुम जिसे भ्रष्टाचार समझते हो-वह उसके अनन्य प्रेम का प्रमाण है । जब वह अपने जूते की नोंक से मेरे सिर पर से सूखे फूल हटाता है तब उसका स्पर्श मुझे प्रिय पुत्र कुमारदेव के आलिंगन से भी अधिक प्रिय लगता है ।

जब मुझ पर वह प्रेम और भक्ति से कुल्ला करता है तब वह कुल्ले का ही पानी गंगा जल से भी अधिक पवित्र जान पड़ता है, वह अनपढ मूर्ख सच्चे स्वाभाविक प्रेम और भक्ति से जो फूल अपने बालों में से निकाल कर मुझ पर चढाता है वे मुझे स्वर्ग में देवताओं के भी चढाये हुए फूलों से अधिक प्यारे लगते हैं । और अपनी मातृभाषा में वह आनंद और भक्ति से भर कर जो थोड़े से शब्द कहकर-मेरे सिवा सारी दुनिया का भान भूल कर मुझे-प्रसाद पाने को कहता है- वे शब्द मेरे कानों में ऋषि-मुनियों के वेद-पाठ से कहीं अधिक मीठे लगते हैं । हे ब्राह्मण, यदि उस शिकारी की भक्ति का महत्व देखना हो तो कल आकर मेरे पीछे खड़े हो जाना ।"

यह सुनना था कि पुजारी को रात भर नींद न आई । सवेरा होते ही वह पूजा पाठ करके मूर्ति के पीछे जा छिपा । तिण्ण की पूजा का यह छठा दिन था । और दिनों की अपेक्षा आज उसे कुछ देर हो गयी थी । इसलिये वह पैर बढ़ाता आया, रास्ते में कई अपशकुन हुए, जिससे तिण्ण ने समझा-"आज जरूर खून गिरना चाहिये कहीं मेरे देवता को तो कुछ नहीं हो गया ?" और वह दौड़ पड़ा । तिण्ण के शोक का पार नहीं रहा जब उसने देखा कि देवता की दाहिनी आंख से खून की अविरल धारा बह रही है । उसने कहा--"हाय अपशकुन सच्चे निकले ।"

मेरे प्यारे भगवान, यह तुझे क्या हो गया ? और वह फूट-फूट कर रोने लगा । उसने कई बार पोंछा किन्तु खून का बहना न रुका । अब तो तिण्ण बिल्कुल ही घबरा गया । उसकी समझ में न आता था कि क्या करना चाहिये ? कुछ सोच कर वह उस आदमी या जानवर को मारने निकला जिसने देवता की यह दुर्दशा की हो । परन्तु कहीं कोई न मिला । फिर उसे उन जड़ी बूटियों का ध्यान आया जो कि उसकी जातिवाले अक्सर घाव पर लगाया करते थे । वह एक बड़ा सा गट्ठर जड़ी बूटियों का ले आया । एक एक कर सबका रस देवता की आँख में निचोड़ दिया किन्तु खून बहना न रुका । इस समय उसे शिकारियों की कहावत याद आयी कि मांस मांस से ही अच्छा होता है ।" याद आना था कि उसके दिल में आनंद की एक नई हिलोर उमड़ पड़ी । उसने क्षण भर भी देर न करके एक तेज बाण की नोंक से अपनी दाहिनी आंख निकाल डाली और

देवता की आँख पर धीरे से लगा दी, आश्चर्य कि खून बहना तुरत बन्द होगया। तिण्ण मारे आनंद के मतवाला होकर नाच उठा। उसकी हँसी और हर्ष ध्वनि से मंदिर ही नहीं, सारा पहाड़ी प्रांत गूँज उठा। परन्तु यह क्या ? अरे अब बायीं आँ में खून बहने लगा। पहले तो वह कुछ घबराया, क्षण भर बाद उसने सोचा - अरे मे जैसा मूर्ख कौन होगा ? जब दवा पास है, फिर शोक कैसा ? अब भी मेरी एक आँ तो है।" और फौरन उसने देवता की बायीं आँख पर अपना बायाँ पैर रखकर जिस उसे पता चले कि आँख कहाँ लगानी है ? (क्योंकि यह आँख भी निकालने के बा उसे कुछ नहीं सूझेगा) उसने पहले से भी अधिक तेजी के साथ बायीं आँख के को में बाण की नोक लगायी, तीर अपना काम करने ही वाला था कि-देवता उसकी इ भक्ति पर फूल बरसाने लगे स्वयं भगवान ने अपने हाथ बढ़ाकर - तिण्ण का हा पकड़ कर रोक दिया और कहा–"*ठहरो मेरे प्यारे कण्णप्प, मेरे कण्णप्प, ठहर जाओ* (कण–आँख। अप्प-वत्स कण्णप्प–कण+अप्प) फिर परमेश्वर ने उसे अपनी छाती से लगाते हुए कहा–त्याग, बलिदान और प्रेम की मूर्ति कण्णप्प, तू इसी तरह सद मेरे पास रहा कर।"

ब्राह्मण पुजारी यह दृश्य देखकर दंग रह गया। उस शिकारी के अनन्य प्रेम और सीधी-सादी भक्ति ने उसकी आँखें खोल दी।

प्रश्न उठता है कि - क्या संसार में रहकर गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी भगवान की भक्ति की जा सकती है ? अवश्य। क्योंकि अब तक जो कुछ हम बता आये हैं उसका सारांश यही है कि परमेश्वर न पूजा की उत्तम सामग्री चाहता है, न कोई खास भेंट चाहता है, न शरीर को गला देने वाली कठोर तपस्या चाहता है, न विद्या न पांडित्य, वह तो केवल भाव का भूखा है, वहाँ तो भक्ति होनी चाहिये, वह लगन, वह मस्ती, वह बेसुधी, वह आग होनी चाहिये जो कि चैतन्य, शबरी, कण्णप्प आदि में थी, जिसमें प्रतिक्षण आनंद ही का अनुभव होता रहता है।

उस उन्मत्त अवस्था में एकान्त वन, सूना आश्रम, माला, मृगछाला, दंड, कमंडल, गेरुआ वस्त्र, कौपीन, जटाजूट या मसून आदि का होना अनिवार्य नहीं है, मनुष्य संसार में, घरबार में परिवार में, पत्नी के सहित, पुत्रों के संग, मित्रों के साथ, धर्मानुसार सारे व्यवहार –(जो कि एक सद्गृहस्थ को करने चाहियें) करता हुआ भी परम भक्त रहता सकता है। और भक्ति पक जाने पर ज्ञानी बनकर अखंड आनन्द प्राप्त कर सकता है। शायद आप कह बैठें कि-यह नुसखा तो "बड़ा ही सस्ता रहा।" हल्दी लगे न फिटकरी रंग चोखा ही आवे। किन्तु विश्वास कीजिये यह बात बिलकुल निर्विवाद और सही तुली है। कैसे ? कि जब आपकी लौ एक प्रियतम परमेश्वर में लग जाती है और उसी में आपको आनंद मिलने लगता है तब स्वाभाविक है कि संसार में वैराग्य हो जावे। यानी आप सब सांसारिक कर्म करते रहें लेकिन उनमें बिलकुल आसक्त

न हो। मुलासा यह है कि जब आपका चित्त एक महान आनन्द का अनुभव कर रहा है तो पत्नी–पुत्र दोस्त, धन-धरती आदि छोटी-छोटी चीजों से आपका क्या लगावा हो सकता है ? इनमें ऊँचे पर पहुँच कर तो ससार और ससार की चीजें बहुत ही तुच्छ जान पड़ती हैं, जैसा कि सूरदासजी ने कहा है—

"जेहि मधुकर अम्बुज रस चाख्यौ क्यों करील फल खावै" अर्थात् जिस भौंरे ने कमल का रस चख लिया वह काँटे के फल क्यों खायेगा ? मतलब यह कि ऐसे भी भक्त हुए हैं जोकि बाकायदा गृहस्थ जीवन बिताते थे किन्तु उनकी लौ भगवान से लगी रहती थी, ऐसे ही एक दम्पति का चरित्र नीचे दिया जा रहा है।

पढरपुर में साधु-सतों की सेवा करने वाले लक्ष्मीदत्त नामक एक ऋग्वेदी ब्राह्मण रहते थे। उनकी सती-साध्वी पत्नी का नाम था रूपा देवी। उन्हीं के गर्भ से परमभक्त राँका जी का जन्म हुआ। ये बहुत ही रक अर्थात् निर्धन थे, इसलिये इनका नाम राँका पड़ गया। समय आने पर श्रीहरिदेव नामक ब्राह्मण की सुशीला कन्या से इनका विवाह हुआ, जिसका नाम (भारी वैराग्य के कारण) बाद में बाँका प्रसिद्ध हुआ।

राँका-बाँका हालाकि बड़े गरीब थे, लेकिन वे गरीबी में भी खुश थे। सवेरा होते ही पति-पत्नी लकड़ियाँ काटने जगल की ओर निकल पड़ते, और लकड़ियाँ लाकर शहर में बेच देते। जो कुछ मिल जाता उसी से भगवान को भोग लगाकर रूखी-सूखी पा लेते। हालांकि लकडियों से जगल भरा पडा था, वे अधिक मेहनत करते तो बहुत सी लकड़ियाँ काट कर–बहुत सा पैसा कमा सकते थे लेकिन ज्यादा की चाह उन्हे थी ही कब ? ज्यादा की चाह तो वह करे जिसका मन सासारिक भोग–विलास, ऐश-आराम में लगा हो वे तो स्वप्न में भी भोगों की कल्पना करना बुरा समझते थे। उन्हें फुरसत ही कहाँ थी भक्ति से ? भगवान पढरीनाथ के प्रेम ने उन्हें मतवाला सा बना रक्खा था, हर समय उन्ही का ध्यान उन्ही का गान, उन्ही की चर्चा,उन्ही की कथा, सौरा जीवन उनका पूजा-मय था। ससार की दृष्टि में भले ही वे निर्धन हो किन्तु उनके पास राम नाम जैसा धन था, जैसा कि मीरा ने कहा है–"**माई री मैंने राम रतन धन पायो ।**"

इसीलिये वे सुख–सतोष का अनुभव करते हुए अक्सर यही कहा करते थे –"धन सारे अनर्थों की जड़ है, धन से दूर रखकर भगवान ने हमारे ऊपर बडी कृपा की है, हमें उस दयालु का गुण गाना चाहिये।

श्री नामदेव उस काल के अच्छे सतो में से थे। राँका जी को दरिद्रता के कष्ट उठाते देखकर उन्हें बडा विचार होता था। उनका अभाव दूर करने के उन्होंने अनेक उपाय सोचे किन्तु मुश्किल यह थी कि वे किसी का दिया हुआ कुछ लेते ही न थे। आखिर नामदेव जी ने अपने आराध्य देव श्री पाडुरग से प्रार्थना की–'कि भगवन्

आप किसी प्रकार रांका जी की दरिद्रता दूर कीजिये।" भगवान ने कहा–"रांका तो मेरा हृदय ही है वह जैसा भी इच्छा करे तो क्या धन की कमी उसे रह सकती है? परन्तु धन के दोषों को जान कर यह दूर ही रहना चाहता है, यह निर्धनता को ही मेरी कृपा मानता है। अगर उसे धन दिया गया तो वह यही समझेगा कि अब मेरे ऊपर प्रभु की कृपा नहीं रही, मुझे विश्वास है नामदेव, वह देने पर भी कदाई कुछ नहीं लेगा, तुम देखना ही चाहते हो तो कल सबेरे वन के रास्ते में छिप कर देखना।"

दूसरे दिन भगवान ने सोने की मुहरों से भरी एक थैली जंगल के रास्ते पर डाल दी, कुछ मुहरें बाहर बिखेर दी और छिप गये आप अपने भक्त का चरित देखने।

रांका जी नित्य नियमानुसार भगवन्नाम का कीर्तन करते हुए लकड़ी काटने चले आ रहे थे, उनसे कुछ गज के फासले पर थी उनकी धर्म पत्नी। मार्ग में मुहरों की थैली देखकर पहले तो वे आगे जाने लगे पर, फिर कुछ सोच कर वहीं रुक गये और हाथों में धूल ले ले कर थैली तथा मुहरों को ढँकने लगे तब तक उनकी पत्नी भी वहाँ आ पहुँची, उन्होंने मुसकराते हुए पूछा-'स्वामी, आप यहाँ क्या कर रहे हैं?' रांकाजी ने उत्तर नहीं दिया। दुबारा पूछा–बताइये न क्या ढँक रहे हैं? रांका जी कुछ रुकते हुए से बोले – "देवी बात यह है–यहाँ अशर्फियों से भरी थैली पड़ी है, मैंने सोचा कि तुम पीछे आ रही हो, कहीं सोना देखकर तुम्हारे मन में लोभ न आ जाय इसलिये इसे धूल से ढँके देता हूँ। धन का लाभ मन में आ जाय तो फिर भगवान का भजन नहीं होता।" यह कहकर पत्नी के चेहरे का भाव देखने लगे। पत्नी खिलखिलाकर हँस पड़ी–बोली "–स्वामी,सोना भी तो मिट्टी ही है, आप धूल से धूल को क्यों ढँक रहे हैं?" यह सुनना था कि रांका जी झट उठ खड़े हुए, पत्नी की बात सुन आनंद मगन होकर बोले–"देवी तुम्हें धन्य है, तुम्हारा ही वैराग्य बांका है, मेरी बुद्धि में तो सोने और मिट्टी में भेद भरा है, तुम मुझसे बहुत आगे बढ़ गई हो।" उधर पेड़ की ओट में छिपे नामदेव जी रांका -बांका का यह वैराग्य देख भगवान से गद्गद् होकर बोले "प्रभो आपकी जिस पर कृपा दृष्टि होती है, उसे तो आपके सिवा तीनों लोकों का राज्य भी नहीं सुहाता, जिसे अमृत का स्वाद मिल गया, भला वह सड़े हुए गुड़ की ओर क्या देखने लगा? धन्य हैं ये दम्पत्ति।"

भगवान ने उस दिन रांका-बांका के लिये जंगल की सारी लकड़ियाँ गट्ठे बाँध बाँध कर इकट्ठी कर दी, दम्पत्ति ने देखा वन में तो आज कहीं लकड़ियाँ ही नहीं दीखतीं। गट्ठे बाँध कर रखी लकड़ियाँ उन्होंने किसी दूसरे की समझी। "दूसरेकी वस्तुको छूना तो क्या, उसकी ओर आँख उठाना भी पाप है," यही सोचकर दोनों खाली हाथ घर लौट आये। रांकाजी ने कहा–"देखा तुमने? सोने को देखने का ही यह फल है कि आज हमें उपवास करना पड़ा।"

उसे छू लेने तो पता नहीं कितना कष्ट मिलता ? अपने भक्त की यह निष्ठा खकर भगवान उसी समय प्रगट हो गये, दंपति के आनंद का पार नहीं रहा, प्रभु के र्शन करके दोनो उनके चरणो मे गिर पडे । इसी प्रकार जीवन भर भक्ति मे मग्न हकर दोनो भक्तो ने परम आनंद प्राप्त किया ।

भक्ति निरंतर बढ़ती ही चली जाती है । भक्त सर्वत्र सब समय एक मात्र अपने गवान को ही देखता है । इस प्रकार वह आनन्द के समुद्र में गोते लगाता रहता है। सकी कभी न समाप्त होने वाली मस्ती के क्या कहने । यही भक्ति जब परिपूर्ण हो ाती है तब भक्त ज्ञानी बन जाता है ।

ज्ञान

भक्ति के प्रकरण में दर्शाया गया है कि भक्ति जब चरम सीमा पर पहुँच जाती है तब भक्त स्वयं को भगवान से अभिन्न देखता है। द्वैत मिट जाता है अद्वैत भाव पैदा होता है, विषमता जाती रहती है, दृष्टि सम हो जाती है। विषमता को अज्ञान या अविद्या कहते हैं और समता को ज्ञान या विद्या कहते हैं। वह सब भूतों में अपने को और अपने में सब भूतों को देखता है जैसा कि हम अन्तर्मुखी वृत्ति में बता आये हैं। इसी का नाम है आत्म ज्ञान आत्म-बोध, आत्म-दर्शन, आत्म साक्षात्कार इत्यादि।

जिस आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा जीव में हुई, जिसके लिये अनेक प्रयत्न किए, धरती, आकाश, पाताल छान डाले, वह आत्म ज्ञान प्राप्त होते ही पूर्ण हो जाती है। चित्त आनन्द ही आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार ध्येय प्राप्त करने के पश्चात् कोई इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती इसलिए कारण शरीर की स्थिति नहीं रहती अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है। आत्म ज्ञानी दो शरीरों ही से जीता है सूक्ष्म और स्थूल। स्थूल शरीर भी तभी तक मौजूद रहता है जबतक कि प्रारब्ध शेष रहता है और जब तक प्रारब्ध शेष रहता है तब तक उसकी (आत्म ज्ञानी) सज्ञा-जीवन मुक्त होती है। तथा जहा प्रारब्ध समाप्त हुआ कि स्थूल देह गिर जाता है। उस समय सूक्ष्म देह स्थूल शरीर से वियोग होते ही कारण शरीर का आधार न पाकर नष्ट हो जाता है अर्थात् जीवन मुक्त महापुरुष विदेह मुक्ति प्राप्त करता है। वह सर्व व्यापक, शुद्ध चैतन्य ही चैतन्य रह जाता है। उसे नचानेवाली माया उसी में विलीन हो जाती है।

ज्ञानी अपने स्वरूप में मस्त है। ससार उसके लिये सपना है। ससार की बडी से बडी घटना उसके लिये खेल है।

ऐसे ही आत्म निष्ठ ज्ञानी की शरण में एक जिज्ञासु आता है। जिज्ञासु के मन में अनेक जिज्ञासाएँ हैं। वह ससार की विभिन्न उलझनो में पडा हुआ है। अनेक समस्याओ ने उसकी बुद्धि को बाध रक्खा है। ससार की कोई भी परिस्थिति उसे सुखदायी नही दिखाई देती। ससार उसके सामने एक दुखरूपी ज्वाला में धधक रहा है। उसके मन में तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि क्या यह दु ख की ज्वाला हमेशा ही धधकती रहेगी ? इसकी कभी शान्ति नही होगी, क्या इससे कभी छुटकारा ही नही मिलेगा ? अपने इन प्रश्नो को लेकर यहाँ वहाँ हर जगह गया।

अनेक प्रकार की साधनाएँ की लेकिन उसे शान्ति नहीं मिली। वह श्रद्धा पूर्वक नम्र भाव से ज्ञानी सद्गुरु से प्रश्न करता है —

शिष्य—गुरुदेव मुझे आनन्द चाहिए, शान्ति चाहिए। संसार में मुझे किसी पदार्थ में आनन्द या शान्ति नहीं मिल रही है।

गुरु—वत्स! तू आनन्द-स्वरूप ही है। तेरे में दुःख नहीं, तू अपने आपको भूलकर दुःखी मान बैठा है।

शिष्य—महाराज मैं आनन्द-स्वरूप हूँ ऐसा तो नहीं देखता। मैं ही क्या सारे जगत् के मनुष्य दुःखी, अशान्त व्यग्र नजर आते हैं। मैं अपने स्वरूप को नहीं भूला हूँ। मुझे मालूम है मेरे माँ-बाप कौन हैं, भाई-बहन कौन हैं, कौन-कौन नाते रिश्तेदार हैं, मैं सबको पहचानता हूँ तथा अपने को भी जानता हूँ। इतनी उम्र है, यह धन्धा करता हूँ, यह नाम यह जाति है। फिर आप कैसे कहते हैं कि मैं अपने स्वरूप को भूल गया हूँ।

गुरु—बेटा! तेरा यह जो ज्ञान है अपने बारे में भ्रान्ति-जन्य है, अज्ञान है, स्थूल का ज्ञान है। इसी ज्ञान के कारण बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा आनन्द या शान्ति प्राप्त करने की मनुष्य जब चेष्टा करते हैं, उसे ढूंढते हैं तो वे दुःखी एवं अशान्त हो जाते हैं। क्योंकि इन सांसारिक पदार्थों में आनन्द या शान्ति नहीं। इन स्थूल इन्द्रियों द्वारा तो भौतिक जगत् बाहरी संसार का ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है जो कि प्रत्यक्ष है। भौतिक जगत से प्राप्त होनेवाला सुख वह सुख नहीं जिसे वे चाहते हैं। उसमें तो सुख की केवल भ्रांति ही होती है।

जैसे एक मनुष्य रु० सौ मासिक पर नौकरी करता है। वह अपना गुजारा करके अपने बालबच्चों की गुजर के योग्य ही देश में पैसा भेज पाता है जिससे वह यही सोचता रहता है कि अगर दो सौ रु० महीना उसकी नौकरी हो जाय तो वह अपने बाल-बच्चों को अपने साथ रखकर आनन्द से जीवन व्यतीत कर सके। वह प्रयत्न करते करते सफल होता है और अपने बाल-बच्चों को बुलाकर एक कमरे में रहने लगता है। कुछ समय बाद उसे वह स्थिति भी आनन्दहीन लगने लगती है और सोचता है कि एक ही कमरे में सोना नहाना, भोजन बनाना सब कुछ करना पड़ता है-यह भी कोई जीवन है। एक फ्लैट हो तो ही आनन्द आवे और इसके लिये भला दो सौ रुपये में कैसे काम चल सकता है। यदि नौकरी चार सौ रु० मासिक हो जाय तो ही जिन्दगी आनन्द से गुजर सकती है। प्रयत्न करता है-सफल होता है - अच्छा फ्लैट मिल जाता है.। कुछ दिन तो आनन्द से रहता है फिर देखता है कि दूसरे फ्लैट वालों के यहाँ तो बड़ा सुन्दर फर्नीचर, रेडियो, बिजली का पंखे रेफ्रिजरेटर आदि अनेक सुख के साधन हैं और वास्तव में इनके बिना आनन्द फिर भी कैसे सकता है परन्तु इतना सब भला चार सौ रु० मासिक पानेवाला नौकर कैसे जुटा सकता है, नौकरी के तो इने गिने पैसे आते हैं, महीना

पूरा होता नहीं, उसके कुछ दिन पहले ही खतम हो जाते हैं। व्यापार करना चाहिये जिसमें आमदनी अधिक हो और जीवन आनन्द में बीते। वह नौकरी छोड़कर व्यापार में लग जाता है और उसकी आय में वृद्धि होती है लगभग १००० रु मासिक प्राप्त करने लगता है, अपने उपराक्त मनोवाछित साधन भी प्राप्त करता है। कुछ दिन बाद ही वे सब उसे रसहीन लगने लगते हैं क्योंकि वह देखता है कि दूसरे लोगों के पास बड़े बड़े मकान हैं जिनमें वातानुकूलित (एअरकण्डीशन) कमरे हैं, मोटर हैं, नौकर हैं। जो भी काम हुआ कि नौकर हाजिर, जहाँ भी जाना हुआ कि मोटर कार तैयार। कमरे में न गरमी है न सर्दी है। वास्तविक आनन्द तो इन्हीं में है। और इतने सब के लिये व्यापार से कुछ नहीं हो सकता, या तो कोई मिल खोला जाय या सट्टा किया जाय जिसमें इतनी आमदनी हो जाय कि इतने साधन प्राप्त करके आनन्दमय जीवन व्यतीत किया जा सके। वह अपने प्रयत्न में सफल होकर ये सभी साधन जुटा लेता है। कुछ दिन बाद ही उसे ये भी फीके लगने लगते हैं जब कि वह दूसरों को देखता है कि लोग नाइट-क्लब में सुरा और सुन्दरी का सेवन करते हैं, मित्रों के साथ आमोद-प्रमोद, नाच, राग, रंग, में ही मस्त रहते हैं। वास्तव में सच्चा आनन्द तो वे ही पाते हैं। हमारा आनन्द भी भला कुछ आनन्द है-सुरा, सुन्दरी नाच, राग-रंग में सुख पाने की कोशिश करता है। मित्रों की टोलियाँ जमने लगती हैं। तबले, सारंगियाँ बजती हैं, सुन्दरियों के सुरीले गायन तथा नयनाभिराम नृत्य चलते हैं, शराब के दौर चलते हैं और इस प्रकार आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है परन्तु कितनी देर को? कुछ ही समय का फिर नई नई सुन्दरियों की इच्छा होती है, पहलेवाली नीरस लगने लगती है। शराब भी पहलेवाली ठीक नहीं जँचती। और ऊँची क्वालिटी की चाहिये इसी फेर में पड़ा हुआ वह उस आनन्द को तड़पता है जिस आनन्द की खोज में वह १००रु मासिक की नौकरी से अब तक चला आ रहा है जिसे वह इस भौतिक जगत की ऊँची से ऊँची वस्तु पा कर भी न पा सका। अब उसे आगे बढ़ने को तो स्थान ही नहीं रहा और पीछे हट नहीं सकता क्योंकि उसे सुरा-सुन्दरी की जो आदत पड़ गयी है वह छूटती नहीं। वह जान गया है कि उसमें आनन्द नहीं है, परन्तु लाचार है बिना उनके उसे चैन कहाँ?

भौतिक वस्तुओं में यदि कहीं भी आनन्द होता तो उन वस्तु के प्राप्त होने पर फिर उसे कोई इच्छा उत्पन्न नहीं होती। एक इच्छा की पूर्ति होने पर दूसरी वस्तु की इच्छा उत्पन्न होना ही प्रमाणित करता है कि पहली इच्छा के विषय में वह आनन्द नहीं था जो वह चाहता था।

इससे स्पष्ट हो गया कि भौतिक जगत में वह सुख नहीं है जिसे मनुष्य चाहता है। केवल भ्रान्ति के कारण भौतिक जगत में उस पदार्थ में वह आनन्द की कल्पना कर लेता है जो उसे प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार वह - प्रत्येक स्थिति में -भ्रान्ति के चक्कर में ही भटकता रहता है। जब उसे १०० रु मिलते थे तब भी उसे चैन न था और इतना सब प्राप्त होने पर भी वह बेचैन है और सच्चा सुख पाने को अब भी भटकता है उसी

प्रकार जैसे मृग दूर से बालू और रेत के टीलो को जल समझकर भटकता रहता है।

मन सदा चचल है और उसका स्वभाव है कि, इन्द्रियो द्वारा प्राप्त सुख मे वह अधिक देर तक स्थिर नही रहता। उसे सदा भिन्न स्थिति और भिन्न रस प्राप्त करने की आदत है। जैसे त्वचा द्वारा जब सर्दी लगती है तो गर्मी मे आनन्द मानता है और गर्मी अधिक समय पाने से फिर वह गर्मी जो उसके आनन्द का कारण थी उसे बेचैन कर देती है और वह फिर सर्दी की चाहना करता है। इसी प्रकार उसे मिठाई अच्छी लगती है, रसना द्वारा उसका आनन्द लेना है परन्तु मिठाई खाते खाते उसे वह रसहीन लगने लगती है और फिर नमकीन मे सुख मानकर नमकीन खाने लगता है। नमकीन खाते खाते वह फिर मिठाई की इच्छा करता है---।इस प्रकार मन कभी किसी में कभी किसी में आनन्द पाता है तो इसका यही कारण है कि, जब एक इच्छा पूर्ण होती है तो चित्त जो कि इच्छाओ द्वारा चलायमान है वह स्थिर हो जाता है तथा उसमे तेरा जो आनन्द है उसका प्रतिबिम्ब दिखता है। तथा बुद्धि यह समझती है कि विषय मे आनन्द प्राप्त हुआ। इस प्रकार वे सासारिक विषय भोगो मे लगे रहते है, अशान्त होते है, दुखी होते है। अगर तू कहे कि स्त्री भोग मे तो प्रत्यक्ष आनन्द है तो यह भी अज्ञान है। क्योंकि जब वीर्य स्खलित होता है, मन स्थिर हो जाता है तथा चित्त तेरे ही आनन्द को प्राप्त करता है।

शिष्य–गुरुदेव यह तो मैं समझ गया कि ससार के पदार्थों की तृष्णा में पड़कर ही हम दुखी हो रहे हैं परन्तु हम जैसा कि आप कह रहे है आनन्द स्वरूप है, तब फिर आनन्द स्वरूप होते हुए भी इस तृष्णा के पीछे क्यो पड़ते हैं। तथा हमारा असली स्वरूप आनन्द मय कैसे है जब कि हम दुखी और अशान्त है इसे कृपाकर स्पष्ट समझाइए।

गुरु–बेटा तू स्वय सत् चित आनन्द है, तेरे सिवाय और कोई सत्ता नही है। यह जड प्रकृति तेरी ही सत्ता से भास रही है तू इसका आधार है यह तेरा आधार नही। तू इसके बिना रह सकता है लेकिन यह तेरे बिना नही रह सकती। जिस प्रकार बिना सोना के जेवर नही रह सकता परतु बिना जेवर के सोना रह सकता। सोना को जेवर बनने मे तो अपने स्वरूप को बदलना पड़ता है। परन्तु तू तो शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप ही रहता है। न कही आता है, न जाता है न नया होता है, न पुराना होता है, न घटता है, न बढता है जो वस्तु बिना किसी के रूप बदले दूसरे रूप मे दिखाई पड़ती है उसे विवर्त कहते है अर्थात् वस्तु वही अपने स्वरूप में रहे परन्तु दूसरे मे दिखे जैसे धुधले प्रकाश में रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है। रस्सी सर्प नही हो जाती परतु धुधलापन के कारण सर्प जान पड़ती है जिससे भय होता है। इसी प्रकार यह शरीर (पच सूक्ष्म भूतो का सूक्ष्म शरीर और पच स्थूल महाभूतो का स्थूल शरीर) जड़ है। परन्तु सूक्ष्म शरीर के द्वारा तुझ चेतन स्वरूप से चेतना ग्रहण कर स्वय भी चेतन हो जाता है तथा स्थूल को भी चेतन बना देता है। जिस प्रकार बल्ब के अदर का तार बिजली से प्रकाश ग्रहण कर स्वय भी प्रकाशित हो जाता है और बाहर के काच को भी प्रकाशित कर देता है। परन्तु बाहर का गोला जिस

प्रकार अकेला प्रकाश ग्रहण नहीं कर सकता न ही अन्दर का चक्र बिना बाहर के ग के प्रकाश फैला सकता है उसी प्रकार अकेला सूक्ष्म या अकेला स्थूल कुछ भी नहीं कर सकता । जब इनमें क्रिया शुरू हो जाती है तब तू अपने स्वरूप को भूलकर इनकी क्रिया को अपनी क्रिया मान, इनके सुख दु:ख को अपना सुख दु:ख समझ, दु:खी सुखी हो अशान्त रहता है। अपने इस स्वरूप को भूलना ही अज्ञान या अविद्या कहलाती है। अगर तू कहे कि मैं अपने स्वरूप को कैसे भूल जाता हूँ तो जैसे तू पलग पर सो जाता है परन्तु रात को सपने में देखता है कि जगल में जा रहा हूँ। कोई जानवर मिल गया तो भयभीत हो जाता है। अगर कहीं धन मिल गया तो खुश हो जाता है । परन्तु मिलता कुछ भी नहीं । तू तो वही पलग पर है, न कहीं गया न कहीं आया परन्तु स्वप्नावस्था के कारण अपने को वैसा ही मानता है । आँख खुलती है तब वह स्वप्नावस्था में दिखनेवाला दृश्य से पैदा होनेवाले सुख दु:ख से छुटकारा मिल जाता है जोकि सत्य न होते हुए भी तुझे भास रहे थे ।

जेवर का सोना जेवर होने पर कसौटी से जिस प्रकार सोना ही उतरता है जैसा कि वह सोना रूप में था परन्तु तू आनन्द रूप होते हुए भी अपने को आनन्द रूप नहीं पाता परन्तु वास्तव में है तू आनन्द रूप ही ।

मन की तीन अवस्थाएँ हैं—१ जाग्रत २ स्वप्न ३ सुषुप्ति (गाढ निद्रा)

जाग्रत अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा अन्त करण चतुष्टय अपने कार्य करते रहते हैं। अज्ञान वश तू इनके होनेवाले सुख दुःख को अपना सुख दुःख मान अशान्त रहता है। स्वप्नावस्था में स्थूल इन्द्रियाँ तो सुप्त हो जाती हैं, परन्तु मन एक ससार बना लेता है। जिसके कारण चित्त चलायमान रहता है जिससे तू समझता है कि मैं सुखी या दुखी हूँ। सुषुप्ति अवस्था में अन्त करण भी लीन हो जाता है यानी चित्त की वृत्तियाँ भी बद हो जाती हैं। तू ही तू रह जाता है। परन्तु उस समय चूँकि तेरी अज्ञान अवस्था है इसलिए उस समय अन्धकार ही अन्धकार रहता है अर्थात् कुछ भी नहीं मालूम पड़ता। जैसे कोई अन्धकार में आँख बन्द कर के देखे तो अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है। उसी प्रकार उस अवस्था में तू अपने स्वरूप में होते हुए भी अपने को नहीं देख सकता। साधना करते करते जब समाधि में स्थित होता है तो चूँकि वह जागृत में होती है उस अवस्था में प्रकाश ही प्रकाश होता है, परन्तु यहाँ भी तू अपने को चित रूप ही मानता है। इसमें (समाधिमें) चित्त तदाकार हो जाता है अर्थात् स्थिर हो जाता है। इसकी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। उस समय तेरी अवस्था ऐसी होती है जैसे कोई प्रकाश को आँख बन्द करके देखे तो प्रकाश दिखाई देता है। तू अपने स्वरूप में स्वय प्रकाश होते हुए भी उसे नहीं जान पाता। जब साधना करते करते समाधि सिद्ध हो जाती है तब जाग्रत में भी चित्त की वृत्ति चालू रहते हुए अपने स्वरूप में स्थित रहता है। इसे सहज समाधि कहते हैं। तुझे अपने आनन्द स्वरूप का पूरा ज्ञान हो जाता है

... पर दृष्टा और आनन्द का अनुभव करता है। वृत्तियों का तुझ पर कुछ भी असर ... पड़ता। तू स्पष्ट देख सकता है कि यह सम्पूर्ण जगत जिस अधिष्ठान पूर्ण तत्व ... हुआ भास रहा है वह अधिष्ठान सच्चिदानन्द तू ही है। "तू ही चित्त है, ... आनन्द है, तू ही अनुभूति है, तू ही अनुभव गम्य है, तू ही अनुभव है। ध्याता ... ध्यान और ध्येय ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सब कुछ तू ही है। विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान, ... सब तेरे ही रूप में है। तुझमें ही सारा नाटक हो रहा है। तू ही नटवर है, तू ही दृश्य है, तू ही दर्शक है। तेरा यह खेल तो यों ही सदा चलता रहता है। माया विशिष्ट होकर ... इसे बनाता है। अविद्या विशिष्ट जीव होकर इसमें अवस्थित रहता है। विद्या से ज्ञान प्राप्त कर पुन अपने स्वरूप आनन्दमय में स्थित हो जाता है जिस प्रकार बादल बनकर समुद्र का जल नदी आदि के रूप में हो जाता है तथा पुन समुद्र रूप हो जाता है। परन्तु ऐसा होते रहने पर भी तेरा कुछ नही बिगड़ता। न कहीं तू आता है न जाता है, न घटता है, न बढ़ता है। तू तो सदा एकरस पूर्ण का पूर्ण ही रहता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

वह परमात्मा पूर्ण है, यह जगत भी पूर्ण है। उस पूर्ण परमात्मा से ही यह जगत उत्पन्न हुआ है। उस पूर्ण परमात्माकी पूर्णता ग्रहण कर लेने पर पूर्ण परमात्मा ही शेष रह जाता है।

जो भी समय लगता है साधना में ही लगता है ज्ञान प्राप्त होने मे नही। जैसे तेल, दीया, बाती इकट्ठा होने पर दियासलाई लगाते ही प्रकाश फैल जाता है। नीचे दिये गये दृष्टान्त से यह बात भलीभांति समझ में आ जायगी।

श्री वेदव्यासजी के सुपुत्र शुकदेवजी सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता थे। वे मन ही मन विचार करते रहे कि यह संसार रूपी आडम्बर क्या है इसका नाश कैसे हो सकता है इसकी शान्ति कैसे हो सकती है। चिरकाल तक साधना करते करते उन्हें विवेक हुआ ज्ञान उत्पन्न हुआ परन्तु उन्हें पूर्ण विश्वास नही हुआ कि, जो कुछ प्राप्त करना है वो यही है। इससे उनके मन को शान्ति नही मिली। इतना अवश्य हुआ कि उनके चित्त की चञ्चलता दूर हो गई और मन क्षणभंगुर भोगों से विरक्त हो गया।

एक दिन शुकदेवजीने अपने पिता से भक्ति भाव से पूछा-"मुने! यह संसार रूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है? कैसे इसकी शान्ति या नाश होता है? यह बतलाइयेगा। पुत्र के इस प्रकार पूछने पर आत्मज्ञानी मुनिवर व्यासजीने उन्हें वो ही ज्ञान दिया जो उन्हें प्राप्त हुआ था। यह सोचकर कि यह हमारे पिताजी हैं हमारे ही मन लायक बात कहकर हमारा उत्साह बढ़ा रहे हैं उनकी जिज्ञासा शान्त नही हुई। व्यासजी ने देखा कि यों इसे विश्राम नहीं होगा उन्होंने कहा—"बेटा! जनक नाम के

एवं प्रसिद्ध राजा हैं, जो जानने योग्य तत्त्व (सच्चिदानन्दघन परमात्मा को) यथार्थ रूप से जानते हैं। उनसे तुम्हें सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो जायेगा।"

पिता वेदव्यास की आज्ञा से श्री शुकदेवजी आत्मज्ञान प्राप्त करने विदेह राज जनक की मिथिला नगरी में पहुँचे। महल के सामनेवाली पहली ड्योढ़ी पर जैसे ही उन्होंने पाँव रक्खा, द्वारपालों ने महाराज को सूचना देकर उनकी आज्ञा से वहीं रोक दिया। वहाँ तेज धूप थी, लू भी चल रही थी, लेकिन शुकदेवजी उसी तरह खड़े रहे, सात दिन बीत गये फिर भी उन्हें न कुछ भूख-प्यास का ही अनुभव हुआ न अपमान, न कुछ माया-कष्ट ही व्यापा। क्योंकि अबतक की साधना में वे दुःख को जीत चुके थे।

इसके बाद एक द्वारपाल ने बड़े सम्मान के साथ उन्हें दूसरी ड्योढ़ी पर पहुँचा दिया, जहाँ घनी शीतल छाया थी और ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। यहाँ भी पूरे सात दिन खड़े रहे। परन्तु छाया अथवा हवा का उन्हें जरा भी अनुभव नहीं हुआ न सम्मान का ही कोई असर पड़ा। क्योंकि वे सुख से भी मुक्त हो चुके थे मानापमान उनके लिये बराबर थे।

इसके बाद राजमन्त्री खुद आया और उसने मुनि को प्रमदा वन में पहुँचा दिया। वहाँ वसंत ऋतु थी, भाँति-भाँति के पुष्प खिले हुए थे और उन पुष्पों से भी सुन्दर वहाँ अनेकों मदोन्मत्त सुन्दरियाँ थी। वे कामिनियाँ बड़ी देर तक उन्हें वन विहार कराती रहीं, तरह तरह से हास परिहास करती रहीं, फिर षट्रस भोजन कराया, गा-बजाकर खूब रिझाया परन्तु शुकदेवजी पर कुछ प्रभाव न पड़ा। रात होने पर पुष्पों की शैया सजाकर इन्हें बैठाया गया। किन्तु यह हाथ पाँव धोकर रात के पहले भाग में परमात्मा का ध्यान करते रहे, मध्य भाग में सोये, चौथे भाग में फिर उठकर आसन जमा लिया और ध्यान में मग्न हो गये।

इन बीच सुन्दरियों ने काफी रिझाया, लुभाया, उकसाया, भड़काया, सताया फिर भी वे उसी प्रकार असफल रहीं जिस प्रकार चट्टान पर प्रबल हवा के झोकों का कोई असर नहीं होता। कामदेव हार गया। मुनि के मन में वह कोई विकार पैदा न कर सका क्योंकि शुकदेव ने काम का भी कामतमाम कर दिया था।

इस प्रकार परीक्षा द्वारा शुकदेवजी के स्वभाव को जान राजा जनक ने इन्हें सादर अपने पास बुलवाया और प्रसन्न चित्त देखकर प्रणाम किया। इनका स्वागत करते हुए राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! जगत में परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये जो जो कर्तव्य हैं, वे सब आपने पूर्ण कर लिये हैं। सारे मनोरथ प्राप्त कर लिया है। अब आप की किस वस्तु की इच्छा है?"

शुकदेवजी ने कहा—"महाराज मैं जानना चाहता हूँ कि संसार रूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है। इसकी शान्ति या नाश कैसे हो जाता है राजा जनक ने भी इन्हें को

ऐसी अनेक स्त्रियाँ हुई है, जिन्होंने तत्वज्ञान प्राप्त किया था। रानी चूड़ाला के न से यह बात भली भाँति समझ में आजायेगी।

द्वापर के अन्त में — उज्जैन में शिखिध्वज नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी पत्नी सौराष्ट्र नरेश की कन्या थी, नाम था चूडाला। वह बड़ी बुद्धिमती, विदुषी और समझदार थी। उसने बहुत पहले ही अनुभव कर लिया था कि—जवानी दिन दिन ढल रही है, बुढ़ापा पल-पल पास आ रहा है, संसार की हर चीज क्षण-क्षण बदलती है। प्रबल संस्कार निर्मल बुद्धि, सच्ची लगन और राज महल में आनेवाले सत-महात्माओं से ज्ञान-चर्चा सुनने और मनन करने के कारण रानी को तत्व ज्ञान प्राप्त हो गया। ज्ञान के तेज से सूरज की तरह दमकने वाला मुख, अग अग में कान्ति और अद्भुत सौन्दर्य देखकर महाराज ने उससे पूछा—"रानी, तुम तो पहचानी भी नही जाती, ये अलौकिक रूप सौन्दर्य और शान्ति तुम्हें कहाँ से प्राप्त हुई? सच बताओ कोई, औषधि सेवन की है? या किसी तत्र-मत्र का प्रयोग किया है? ऐसा लगता है जैसे तुम्हारा शरीर फिर युवा अवस्था प्राप्त कर रहा हो।"

रानी ने अपने तत्वज्ञान प्राप्त होने का भेद बता दिया कि उसने किस तरह साधना द्वारा समस्त कामनाओ सहित अहकार का त्याग करके मैं अव्यक्त परम तत्व में स्थित हूँ अर्थात् मैंने अखड आनन्द प्राप्त किया है। न मैं क्रोध करती हूँ, न हर्षित होती हूँ, न अशान्त होती हूँ। किन्तु महाराज के दिमाग मे रानी की बात नही बैठी। बैठे भी तो कैसे? कोई साधु सत यह दावा करे तो उसकी बात मानी भी जाय लेकिन कोई स्त्री अपने पति से कहने लगे कि मैंने तो ज्ञान प्राप्त कर लिया है, मैं तो महात्मा हो गयी हूँ तो पति शायद यही समझेगा कि इसका दिमाग खराब हो गया है।

महाराज ने भी रानी चूडालाको नादान समझते हुए यही कहा—"रानी अभी तुम्हारी बुद्धि कच्ची है तभी ऐसी बेसिर पैर की बात कर रही हो। ये अटपटी बाते छोडो और राज सुख भोगती हुए मुझे आनदित करो।"

रानी ने समझ लिया कि महाराज के आत्म ज्ञान का अवसर अभी नही आया है अभी साधना की जरूरत है, खेत शुद्ध हुए बिना-बीज बोना बेकार है।" यही सोच कर पति के कल्याण की इच्छा रखनेवाली रानी उस समय विशेष की बाट देखने लगी।

कुछ दिनो बाद कोई कामना न होते हुए भी—पतिका हित करने के विचार से योग साधना का रहस्य जानने वाली रानी चूडाला ने कुछ सिद्धियाँ प्राप्त कर ली। अब वह आकाश मार्ग में स्वच्छन्द घूम सकती थी, जैसा जी चाहे रूप धारण कर सकती थी। धर्मात्मा राजा शिखिध्वज को धर्म पूर्वक प्रजापालन करने तथा मनमाना राज-सुख भोगते हुए बहुत काल बीत गया। फिर भी उनकी तृप्ति नही हुई, तृष्णा का अत न देखकर विषय-भोग से वे खिन्न हो गये। बहुत से व्रत, किये बहुत से दान दिये, बहुत

भिक्षाटन के लिये पास के गाँव में गये हैं । वाहिय को चैन कहाँ ? उसी ओर दौड़ पड़े गाँव पहुँचकर देखा कि भगवान एक साधारण गृहस्थ की देहरी पर भिक्षा-पात्र लिये खड़े हैं । उनके मुख मंडल की अलौकिक शोभा और तेज देखकर वे देखते ही रह गये कुछ क्षण बाद चरणों में दण्ड की तरह गिर कर बड़ी नम्रता से वे बोले—"भगवन् मुझे धर्मोपदेश करें, जिससे अक्षय सुख शान्ति प्राप्त हो ।" भगवान ने अत्यन्त शान्ति पूर्वक वाहिय से कहा—"कि मैं भिक्षाटन को निकला हूँ, यह समय धर्मोपदेश का नहीं।" वाहिय ने जीवन की क्षणभंगुरता बताते हुए दूसरी बार निवेदन किया कि—"भगवन् शीघ्र धर्मोपदेश करें ।" भगवान ने दूसरी बार भी यही कहा कि—"मैं भिक्षा की प्रतीक्षा में खड़ा हूँ, यह समय धर्मोपदेश के लिये उचित नहीं ।"

वाहिय ने तीसरी बार पुन अनुरोध किया—"भन्ते, श्राम के पत्ते की नोक पर लटकी जल की बूँद का ठिकाना है किन्तु जीवन का कोई ठिकाना नहीं, अगले क्षण भगवान् या मैं ही रह पाऊँगा या नहीं ? कुछ भी निश्चित् नहीं । इसलिये इस संसार-सागर से मैं पार हो जाऊँ, भगवन्, ऐसा उपदेश करें ।"

"अच्छा वाहिय" भगवान उसी अवस्था में गृहस्थ की देहरी पर अपना खाली पात्र लिये बड़े शान्त स्वर में बोले —"तुम्हें अभ्यास करना चाहिये, तुम्हें देखने में केवल देखना ही चाहिये, सुनने में केवल सुनना ही चाहिये, सूंघने, चखने और स्पर्श करने में केवल—सूंघना, चखना, स्पर्श ही करना चाहिये । जानने में केवल जानना ही चाहिये, यदि तुमने ऐसा सीख लिया अर्थात् देखकर, सूंघकर, चखकर स्पर्श कर और जानकर उसमें लिप्त न हो सके, आसक्ति तुम्हें छू नहीं सकी तो निश्चय जानो, तुम्हारे दुःखों का अन्त हो जायेगा । आसक्ति ही बाँधनेवाली है, आसक्ति से छुटकारा पाने का नाम ही निर्वाण (मुक्ति) है ।"

वाहिय फिर भगवान के चरणों में गिर पड़े । उन्होंने अनुभव किया कि भगवान् के उपदेश मात्र से उनका चित्त उपादान से रहित हो गया अर्थात् आसक्ति नष्ट हो गई । वे गद्‌गद् स्वर में बोले—' भगवन्, मैं आपका जीवन भर ऋणी रहूँगा, आज भगवान ने मुझे मुक्ति का मूल तत्व बतला दिया ।"

भगवान मुस्कराते हुए भिक्षा के लिये-आगे बढ़ गये । साधना तो थी ही पहले की इस उपदेश के साथ ही वाहिय को ज्ञान प्राप्त हो गया ।

वाहिय ने कहा था कि जीवन अत्यन्त अस्थिर है, भगवान जैसे ही विहार में पहुँचे, एक भिक्षु ने खबर दी कि "वाहिय को किसी साँड ने मार गिराया ।"

भगवान ने शान्त स्वर में कहा—"भिक्षुओ, वाहिय ने मेरा उपदेश ठीक से ग्रहण कर लिया था, इसलिये वह मुक्त हो गया ।"

ज्ञानी पुरुष ही होता है—ऐसी बात नहीं, स्त्री भी हो सकती है और हुई है हमारे

यहां ऐसी अनेक स्त्रियाँ हुई है, जिन्होंने तत्वज्ञान प्राप्त किया था। रानी चूडाला के चरित से यह बात भली भाँति समझ में आजायेगी।

द्वापर के अंत में — उज्जैन में शिखिध्वज नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी पत्नी सौराष्ट्र नरेश की कन्या थी, नाम था चूडाला। वह बडी बुद्धिमती, विदुषी और ज्ञानहारथी। उसने बहुत पहले ही अनुभव कर लिया था कि–जवानी दिन-दिन ढल रही है, बुढापा पल-पल पास आ रहा है, संसार की हर चीज क्षण-क्षण बदलती है। प्रबल संस्कार निर्मल बुद्धि, सच्ची लगन और राज महल में आनेवाले संत-महात्माओं से ज्ञान-चर्चा सुनने और मनन करने के कारण रानी को तत्व ज्ञान प्राप्त हो गया। ज्ञान के तेज से सूरज की तरह दमकने वाला मुख, अंग अंग में कान्ति और अद्भुत सौन्दर्य देखकर महाराज ने उससे पूछा–"रानी, तुम तो पहचानी भी नहीं जाती, ये अलौकिक रूप सौन्दर्य और शान्ति तुम्हें कहाँ से प्राप्त हुई? सच बताओ कोई, औषधि सेवन की है? या किसी तंत्र-मंत्र का प्रयोग किया है? ऐसा लगता है जैसे तुम्हारा शरीर फिर युवा अवस्था प्राप्त कर रहा हो।"

रानी ने अपने तत्वज्ञान प्राप्त होने का भेद बता दिया कि उसने किस तरह साधना द्वारा समस्त कामनाओं सहित अहंकार का त्याग करके मैं अव्यक्त परम तत्व में स्थित हूँ अर्थात् मैंने अखंड आनन्द प्राप्त किया है। न मैं क्रोध करती हूँ, न हर्षित होती हूँ, न अशान्त होती हूँ। किन्तु-महाराज के दिमाग में रानी की बात नहीं बैठी। बैठे भी तो कैसे? कोई साधु संत यह दावा करे तो उसकी बात मानी भी जाय लेकिन कोई स्त्री अपने पति से कहने लगे कि मैंने तो ज्ञान प्राप्त कर लिया है, मैं तो महात्मा हो गयी हूँ तो पति शायद यही समझेगा कि इसका दिमाग खराब हो गया है।

महाराज ने भी रानी चूडालाको नादान समझते हुए यही कहा–"रानी अभी तुम्हारी बुद्धि कच्ची है तभी ऐसी बेसिर पैर की बातें कर रही हो। ये अटपटी बाते छोडो और राज सुख भोगती हुए मुझे आनंदित करो।"

रानी ने समझ लिया कि महाराज के आत्म ज्ञान का अवसर अभी नहीं आया है अभी साधना की जरूरत है, खेत शुद्ध हुए बिना-बीज बोना बेकार है।" यही सोच कर पति के कल्याण की इच्छा रखनेवाली रानी उस समय विशेष की बाट देखने लगी।

कुछ दिनों बाद कोई कामना न होते हुए भी–पतिका हित करने के विचार से योग साधना का रहस्य जानने वाली रानी चूडाला ने कुछ सिद्धियाँ प्राप्त कर ली। अब वह अकाश मार्ग में स्वच्छंद घूम सकती थी, जैसा जी चाहे रूप धारण कर सकती थी। धर्मात्मा राजा शिखिध्वज को धर्म पूर्वक प्रजापालन करने तथा मनमाना राज-सुख भोगते हुए बहुत काल बीत गया। फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई, तृष्णा का अंत न देखकर विषय-भोग से वे खिन्न हो गये। बहुत से व्रत, किये बहुत से दान दिये, बहुत

से तीर्थों में घूमे किन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिली। अन्त में राजा ने एकदम विरक्त होकर वन में जाकर तपस्या करने का निश्चय किया। रानी से कहा–राजसुख तुम भोगो, मैं तो अब तपस्या करूँगा।" चूडाला ने कहा–"महाराज वन में जाकर ही शान्ति नहीं मिला करती, अभी घर में ही आप वानप्रस्थ का अभ्यास कीजिये, समय आने पर हम दोनों साथ साथ वन गमन करेंगे।"

रानी की बात महाराज को जँची नहीं वे समझे ये मोह-ममता में पड़ी हुई है, अकेले मुझे नहीं जाने देगी इसलिये आधी रात को जब रानी सुख की नींद सो रही थी वे उठे और राज भवन से बाहर निकल गये। संयोग की बात कि उसी समय रानी की आँख खुल गई। पति को न देखकर रानी समझ गई कि वे वन को ही गये होंगे। योगिनी रानी तत्काल खिड़की के मार्ग से निकल कर आकाश में पहुँच गई, शीघ्र ही उसने वन में जाते हुए अपने स्वामी को देख लिया। आकाश मार्ग से गुप्त रहकर वह महाराज के पीछे पीछे चलती रही।

वन में, नदी के किनारे एक अच्छा सा स्थान देखकर महाराज बैठ गये। पति के तप स्थान को देखने के बाद–चूडाला ने यही निश्चय किया कि–"मुझे इनकी तपस्या में बाधा नहीं देनी चाहिये, मेरा कर्तव्य है इस समय राज्य संभालना" और वह घर लौट कर भली–भाँति प्रजा–पालन करने लगी।

कुछ काल बीत जाने पर चूडाला के मन में पति दर्शन की इच्छा हुई। वे आकाश-मार्ग से उस तपोवन में जा पहुँची। कठोर तपस्या करने से जिनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है, जिनकी मुख मुद्रा उदास और शांत है ऐसे राजा को देखकर योगिनी चूडाला को यह समझते देर न लगी कि–"हाँ-अब खेत शुद्ध हो गया, बीज बोया जा सकता है। अब ये तत्वज्ञान के अधिकारी हैं।"

श्रद्धा के बिना सुने हुए उपदेश में विश्वास नहीं होता इसलिये स्त्री के वेश में रानी ने महाराज के सामने जाना उचित नहीं समझा। उन्होंने एक शान्त और सुन्दर तपस्वी का रूप अपनी संकल्प शक्ति से धारण कर लिया और आकाश मार्ग से तपस्वी राजा के सामने उतर पड़ी। राजा शिखिध्वज ने आकाश से उतरते हुए एक युवक तपस्वी को देखा तो उठ खड़े हुए। दोनों ने एक दूसरे को प्रणाम किया। आसन अतिथि का सत्कार करने के बाद सत्संग प्रारम्भ हुआ। ऋषि का रूप रखनेवाली रानी ने पूछा–"आप कौन हैं?" राजा ने अपना परिचय देकर कहा–"मैं संसार से भयभीत होकर इस वन में रहता हूँ। जन्म-मरण के बन्धन से मैं डर गया हूँ, कठोर तप करते हुए भी मुझे शांति नहीं मिल रही है। मैं असहाय हूँ, मुझपर कृपा करें।" चूडाला ने कहा "कर्मों का आत्यन्तिक नाश ज्ञान के द्वारा ही होता है ज्ञानी कर्म करते हुए भी अकर्ता है। उसके कर्म उसके लिये बंधन नहीं बनते क्योंकि उसमें आसक्ति कामना नहीं। सभी देवता और मुनियों ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते हैं फिर आप ...

को ही मोक्ष का हेतु मानकर क्यों भ्रान्त हो रहे हैं? यह देह है, यह कमण्डल है, यह आसन है आदि नानात्व के भ्रम में आप क्यों पड़े हैं? मैं कौन हूँ? यह जगत कैसे पैदा हुआ? इसकी शान्ति कैसे होगी? इस प्रकार का विचार आप क्यों नहीं करते? राजा ने अब उस ऋषिकुमार को ही अपना गुरु मान लिया और आग्रह किया कि —"कृपया-मुझे ज्ञान दें।" चूडाला ने कहा—आपकी पत्नी ने तो बहुत पहले आपको तत्वज्ञान का उपदेश दिया था, आपने उसके उपदेश को ग्रहण नहीं किया और न सर्व त्याग का ही आश्रय लिया।"

राजा ने सर्वत्याग का ठीक मतलब नहीं समझा। उन्होंने उस वन के त्याग का संकल्प किया। किन्तु जब ऋषिकुमार ने वन त्याग को भी सर्व त्याग नहीं माना तब राजा ने अपने आश्रम की ममता भी छोड़ दी, उन्होंने कुटिया की तमाम चीजें इकट्ठी करके उनमें आग लगादी। राजा में अब विचार जाग उठा था, वे खुद सोचने लगे थे कि सर्वत्याग हुआ या नहीं? ऋषिकुमार चुप चाप उनकी ओर देख रहे थे। क्षणभर बाद वे बोले—"राजन् अभी आपने कुछ नहीं छोड़ा है। सर्व त्याग के आनन्द का झूठा नाटक मत करिये।

आपने जो कुछ जलाया है—उसमें आपका था ही क्या? वे तो सब प्रकृति से बनी हुई चीजें थीं। राजा ने कुछ देर सोचा और कहा—आप ठीक कहते हैं, अभी मैंने कुछ नहीं छोड़ा है, लेकिन अब मैं सर्व त्याग करता हूँ।" अपने शरीर की आहुति दे डालने को तैयार राजा को ऋषि कुमार ने फिर रोका—"तनिक ठहरिये, यह शरीर आपका है" यह भी आपका भ्रम है, यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश-पंचतत्व से यानी प्रकृति से ही बना है, इसे नष्ट करने से कुछ लाभ नहीं।

"तब मेरा क्या है?' अब नरेश थके से बैठ गये और पूछने लगे। ऋषिकुमार मुस्कराते हुए बोले—"राजन् यह अहंकार ही आपका है। 'मैं-मेरा' इस अहंकार को ही आप छोड़ दीजिये, आपका सर्व त्याग पूरा हो जायेगा।

'अहंकार का त्याग' शिखिध्वज के निर्मल चित्त में यह बात प्रकाश बनकर पहुँची, अहंकार के बाद जो रह जाता है वह तो वर्णन का विषय नहीं है। तीर ठीक निशाने पर लगा, राजा को उसी क्षण तत्वज्ञान प्राप्त हो गया। और तब ऋषि कुमारका रूप छोड़, चूडाला ने अपना रूप धारण करके उनके चरण छुए। दोनों ज्ञानियों ने अखंड आनन्द प्राप्त किया। पत्नी हो तो ऐसी हो।

से तीर्थों में घूमे किन्तु उन्हें शान्ति नहीं मिली। अन्त में राजा ने एकदम विरक्त होकर वन में जाकर तपस्या करने का निश्चय किया। रानी से कहा—राजसुख तुम भोगो, मैं तो अब तपस्या करूंगा।" चूडाला ने कहा—"महाराज वन में जाकर ही शान्ति नहीं मिल सकती, अभी घर में ही आप वानप्रस्थ का अभ्यास कीजिये, समय आने पर हम दोनों साथ साथ वन गमन करेंगे।"

रानी की बात महाराज को जँची नहीं वे समझे ये मोह-ममता में पड़ी हुई हैं अकेले मुझे नहीं जाने देंगी इसलिये आधीरात को जब रानी सुख की नींद सो रहीं थीं वे उठे और राज भवन से बाहर निकल गये। संयोग की बात कि उसी समय रानी की आँख खुल गई। पति को न देखकर रानी समझ गई कि वे वन को ही गये होंगे। योगिनी रानी तत्काल खिड़की के मार्ग से निकल कर आकाश में पहुँच गई, शीघ्र ही उसने वन में जाते हुए अपने स्वामी को देख लिया। आकाश मार्ग से गुप्त रहकर वह महाराज के पीछे पीछे चलती रही।

वन में, नदी के किनारे एक अच्छा सा स्थान देखकर महाराज बैठ गये। पति के तप स्थान को देखने के बाद—चूडाला ने यही निश्चय किया कि—"मुझे इनकी तपस्या में बाधा नहीं देनी चाहिये, मेरा कर्त्तव्य है इस समय राज्य सम्भालना" और वह घर लौट कर भली—भांति प्रजा—पालन करने लगी।

कुछ काल बीत जाने पर चूडाला के मन में पति दर्शन की इच्छा हुई। वे आकाश-मार्ग से उस तपोवन में जा पहुँची। कठोर तपस्या करने से जिनका शरीर सूखकर कांटा होगया है, जिनकी मुख मुद्रा उदास और शांत है ऐसे राजा को देखकर योगिनी चूडाला को यह समझते देर न लगी कि—"हां-अब खेत शुद्ध हो गया, बीज बोया जा सकता है। अब ये तत्वज्ञान के अधिकारी हैं।"

श्रद्धा के बिना सुने हुए उपदेश में विश्वास नहीं होता इसलिये स्त्री के वेश में रानी ने महाराज के सामने जाना उचित नहीं समझा। उन्होंने एक शान्त और सुन्दर तपस्वी का रूप अपनी सङ्कल्प शक्ति से धारण कर लिया और आकाश मार्ग से तपस्वी राजा के सामने उतर पड़ी। राजा शिखिध्वज ने आकाश से उतरते हुए एक युवक तपस्वी को देखा तो उठ खड़े हुए। दोनों ने एक दूसरे को प्रणाम किया। आगत अतिथि का सत्कार करने के बाद सत्सङ्ग आरम्भ हुआ। ऋषि का रूप रखनेवाली रानी ने पूछा—"आप कौन हैं?" राजा ने अपना परिचय देकर कहा—"मैं संसार से भयभीत होकर इस वन में रहता हूँ। जन्म मरण के बन्धन से मैं डर गया हूँ, कठोर तप करते हुए भी मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। मैं असहाय हूँ, मुझपर कृपा करें।" चूडाला ने कहा"कर्मों का आत्यंतिक नाश ज्ञान के द्वारा ही होता है ज्ञानी कर्म करते हुए भी अकर्त्ता है। उसके कर्म उसके लिये बंधन नहीं बनते क्योंकि उसमें आसक्ति कामना नहीं रहती। सभी देवता और श्रुतियां ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानती हैं फिर आप तप

मचती है, भयकर नरमहार होने लगता है, इस प्रकार शान्ति के भक्त अशान्ति के दास बन जाते हैं। और ससार बन जाता है घोर नरक।

फिर कोई महाशक्ति दिव्य, ज्योति प्रकट होती है, फिर कोई महात्मा महापुरुष आता है दुनिया को सही रास्ता दिखाता है, लोगो को ज्ञान देता है, ससार पर प्रभाव पडता है, इतना कि वही अपने युग का भगवान बन जाता है। मतलब इसी प्रकार उत्थान पतन का क्रम चलता रहता है।

आज भी शान्ति प्राप्त करने के लिए दुःखी ससार तडप रहा है। वह महान्‌वैज्ञानिक के रूप म महान्‌ पुरुषार्थ, अथक परिश्रम और तरह तरह के प्रयोग कर रहा है। भौतिक विज्ञान की सामग्रियो के भण्डार भरे पडे है, एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी इसी प्रकार नई नई चीज का उत्पादन आये दिन निरतर हो रहा है। वे चीजे मनुष्य को सुख शान्ति देने का यद्यपि दम तो भरती है, दावा तो करती है, लेकिन कुछ देर के लिए, कुछ थोडी सी मात्रा में हमेशा के लिए पूरी तरह नही।

भौतिक विज्ञान की उन्नति से जितना सुख मिलता है, जितनी सुविधाएँ प्राप्त होती है, उससे कई गुना परेशानियाँ बढ जाती है, आशकाए बढ जाती है, भय बढ जाता है। एक प्रतिस्पर्धा, एक होड, एक कम्पटीशन शुरू हो जाता है। हर देश चाहता है कि विज्ञान के क्षेत्र में हमी सबसे आगे रहें। कोई ऐसा अस्त्र शस्त्र बनाए जोकि दूसरा न बना सका हो। बडे बडे दावे किए जाते है, तरह तरह से प्रचार किए जाते है, बढ बढ कर बात बनाई जाती है। अपना पलडा भारी बनाने के लिए ससार की जनता को फोडा जाता है बहकाया जाता है, भरमाया जाता है कि हमी सबसे ऊँचे है, हमारे ही साथ रहने से सबका कल्याण है। नतीजा यह होता है कि बडे बडे देशो के गुट बन जाते है, कोई किसी के साथ होता है कोई किसी के साथ। एक गुट दूसरे गुट को शत्रु समझने लगता है, एक दूसरे का विरोध करते है, एक पूरब जाता है दूसरा पश्चिम। भले ही दिखाने का दोस्ती का दम क्या न भरता हो। ईर्ष्या द्वेष घृणा, युद्ध यहाँ तक कि दिमाग का सन्तुलन बिगड जाने पर शत्रु का नाश करने के लिये विज्ञान सर्वनाश तक कर डालता है। यानी कोई अस्त्र विशेष फेका जाता है एक देश पर और तबाह हो जाते है बहुत से देश। दूसरी तरफ से भी ईंट का जवाब पत्थर से मिलता है-यानी बरबाद करनेवाला भी नष्ट हो जाता है। महायुद्ध के बाद पृथ्वी की और उस पर बसनेवाले बचे खुचे आदमियो की कितनी दुर्दशा होती है इसका करुण रोमाचक चित्र महाभारत में तो मिलता ही है। बीसवी सदी में होनेवाले प्रथम और द्वितीय महायुद्धके चिन्ह इतने भयकर है कि जिसकी पूर्ति आज तक भली भाँति नही हो पाई है।

हम चाहते है कि सब आपस में प्रेम करें, सब एक दूसरे की भलाई करें, सब एक दूसरे का मगल सोचें। एक देश दूसरे देश का एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का मित्र हो। गिरे

उपसंहार

सृष्टि का विकास होते होते जिस समय मनुष्य बना (जिसमें कि मनन करने की शक्ति विशेष है) उसी समय से सच्चे सुख की खोज शुरू हुयी। सच्चा सुख यानी अखंड आनन्द पूर्ण शान्ति जिसे प्राप्त करने के लिए अनेक साधनों का सहारा लेकर युग युग में, समय समय पर मनुष्य अनेक प्रयोग करता चला आ रहा है। ऋषि मुनि सन्त महात्मा पीर, पैगम्बर तथा राम, कृष्ण, बुद्ध, मोहम्मद, ईसा आदि अवतारों के रूप में वह अपने आनन्दमय रूप लेकर समार के सामने आता है। अपने असाधारण ज्ञान, उपदेश शिक्षा और चरित्र से वह समार में आनन्द का प्रचार और विस्तार करता है। नतीजा यह होता है कि जरा, व्याधि, जन्म-मरण से ग्रस्त आवागमन के चक्कर में पड़ा हुआ विषयों में आसक्त मनुष्य एक नया जीवन नया प्रकाश पाता है। एक नई राह एक नई दिशा मिलती है जिस पर चलकर मनुष्य को बहुत हदतक सच्चा सुख, आनन्द प्राप्त होता है।

जब दुनियाँ के तमाम धर्म ग्रंथ यानी वेद, पुराण बाइबल, कुरान, आदि जो कि परमात्मा या अवतार आदि की पवित्र वाणी माने जाते हैं उसी आनन्द और शान्ति का मार्ग हमें दिखाते हैं फिर ऐसा क्या कारण कि सब जगह शान्ति का राज नहीं हो पाता है ? कारण यही है कि जब तक ससार अज्ञान के अंधेरे में भटकता हुआ ठोकरें खाता है, अनेक दुःख, अनेक कष्ट, अनेक मुसीबतें सहता हुआ तेजी से सर्व नाश की ओर बढ़ने लगता है। अर्थात् भौतिक वस्तुओं को ही सुख का साधन मानकर उनके सग्रह में ही पूरी शक्ति लगा देता है, तब तब कोई न कोई महात्मा किसी न किसी रूप में ज्ञान का प्रकाश लेकर आता है। समार उसकी तरफ खिंच जाता है लोग उसके बताये हुए मार्ग पर चल पड़ते हैं। कुछ समझबूझकर कुछ बिना समझे बूझे यू ही श्रद्धा के कारण। परिणाम यह होता है कि जो समझकर चलते है वे अपने जीवन में तो उस ज्ञान की परम्परा का निभाते हुए अपना जीवन आनन्दमय बना लेते हैं। किन्तु आनेवाली पीढ़ियाँ उनकी सन्तानें अर्थ का अनर्थ कर डालती हैं। वे भी नासमझों की तरह अधविश्वासी बन जाती हैं। यानी पाखण्ड ढोंग, ढकोसला मात्र ही रह जाता है। सत्यता असलियत कुछ भी नहीं। लोग अपने धर्म को ही ऊँचा सिद्ध करने की धुन में घोर अधर्म पर उतारू हो जाते हैं। लडाइयाँ होती हैं, शस्त्र चलते हैं, मारकाट

तृष्णा में फँसे हुए हैं। फिर सत्य ज्ञान क्या है? सत्य ज्ञान तो वही आत्म-ज्ञान है। उस आत्मा का ज्ञान जो कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म यानी अणु से भी अणु है। जिससे आखों से दिखाई देने वाला यह स्थूल जगत् और उसकी असख्य चीजे पैदा हुई हैं। आत्मा की उस अनत-शक्ति का ज्ञान जिसके लाखवें, करोडवें अश से असख्य ऐटम, हाइड्रोजन (अणु-परमाणु) पैदा होते है। जिसके विना एक पत्ता भी नही हिल सकता। हम जिन-जिन चीजो को लेकर ज्ञानी बनने का दावा करते हैं जरा गहरी दृष्टि डालकर देखा जाय तो हम उनमें से कुछ भी नही है। न मनुष्य है, न पण्डित है, न ठाकुर है, न व्यापारी है, और न सेवक। हम कोई शरीर भी नही है आखिर फिर हैं तो क्या हैं? हम तो वह हैं जो इन सबमें रहते हुए इन जैसा नही, इनसे बिलकुल भिन्न न्यारा है। इन सब निर्मितो का मूल कारण आत्मा है यानी देह नही आत्मा हैं।

इसी को जान लेना आत्म-ज्ञान, आत्म दर्शन, आत्म अनुभूति, आत्म साक्षात्कार, आत्म बोध स्वरूप ज्ञान, ब्रह्मज्ञान या अपने असली रूप को जान लेना है। यानी हम अभी तक अपने नकली रूप को ही जाने हुए हैं। पच भौतिक शरीर को ही "मैं" माने हुए है। और इसी से सबध रखने वाले इष्ट-अनिष्ट, अच्छे बुरे प्रसगो पर सुखी दुखी होते रहते हैं, इसी का नाम अविद्या है अज्ञान है। जब कि 'मैं' पचतत्वो से बना शरीर नही बल्कि आत्मा है जोकि सत्‌चित्त आनन्द है। उसी "मैं" अहम् या आत्मा का जान लेना ही अहम् ब्रम्हाऽस्मि शिवोऽहम् वाला यथार्थ ज्ञान है और इसी ज्ञान मे है अखण्ड आनन्द पूर्ण शान्ति।

हम अज्ञानी विषय वासना के कारण आजतक कितनी बार जन्म चुके है, कितनी बार मर चुके हैं। पशु, पक्षी कीट, पतग, आदि के कितनी बार शरीर धारण कर चुके है? कोई गणना, कोई हिसाब कोई अदाज नही। हमारी इन्द्रियो का स्वभाव है विषयो की ओर दौडना। उनके पीछे पीछे दौडते हैं—मन, बुद्धि और अहकार। फल यह होता है कि दर्पण से निर्मल चित्त पर निरन्तर उसकी छाप पडती रहती है। जोकि सुख दुख, पुनर्जन्म आदि का कारण बनती है। इन्द्रियो की यह भाग दौड एक बडे नशे के समान है। इस नशे की हम लत पड चुकी है, हम पक्के नशेबाज बन चुके है। हम अज्ञान वश भूले हुए है कि यह नशा हमे अज्ञान की ओर लिए जा रहा है। इस नशे से छुटकारा पाने का एक ही सरल रास्ता है। वह यह कि मन को इधर उधर से हटाकर उस ओर लगावें जिधर आनन्द ही आनन्द हो। इसलिए कि मन उसमें रम सके, ठहर सके इसके लिए अनिवार्य है कि आनन्द का कोई न कोई स्थूल रूप हो—कोई मोटी शकल हो।

इसके लिए जरूरी है कि हमारे सामने किसी आनन्दमय देवता सत महात्मा की मूर्ति या चित्र हो। क्योकि शून्य मे तो मन लग ही नही सकता। आनन्द की कोई शकल सुरत ही नहीं ऐसी स्थिति म ध्यान करेंगे तो किस का। साराश यह कि मन को एकाग्र करने के लिए चित्त वृति को एक ओर लगाने के लिए, बुद्धि निश्चयात्मक बनाने के

को उठाये और बिगड़े को बनाए, संकट में काम आए। आप भी शान्ति से जिए और दूसरों को भी शान्ति से जीने दे। जरूरत आ पड़े तो उसके लिए बड़ा से बड़ा त्याग, बड़े से बड़ा बलिदान भी कर डाले। मानव जाति की सेवा, मानव समाज की सहायता, मानव मात्र की उन्नति ही सबका लक्ष्य हो। यहाँ तक कि अपने हृदय को इतना विशाल बना ले कि क्या मानव, जीव मात्र से प्रेम हो, प्राणि-मात्र प्यारा हो। हम सबके मन एक हो, विचार एक हो लक्ष्य एक हो। सबके कल्याण के लिए हम एक साथ बैठकर विचार विमर्श करें जैसा कि वैदिक काल के ऋषिमुनि करते थे।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् देवाभागं यथा पूर्वेसंजानाना उपासते। समानो मन्त्रः समितिः समानी। समानी व आकूतिः, हृदयानि वः। समान मस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।

(ऋग्वेद)

चूंकि मनुष्य में मनन करने की शक्ति विशेष है जो कि दूसरे प्राणियों में नहीं पाई जाती इसलिए शान्ति प्राप्त करने का रास्ता भी दूसरों के मुकाबले में अधिक साफ और खुला हुआ है। विपरीत इसके, मनन करने की इसी विशेषता के कारण मनुष्य यदि उल्टे मार्ग पर चल पड़ता है तो ठोकर भी ऐसी लगती है कि जो अन्य जीवों को नहीं लगती। यानी ऊपर उठने की जितनी गुंजाइश है। नीचे गिरने की भी उतनी ही सम्भावना है। मनुष्य जीवन क्या है? बहुत ही तेज धारवाली दुधारी तलवार है। जिसके प्रयोग में बड़ी सावधानी बड़ी होशियारी बड़ी चतुराई बरतने की जरूरत है। जरा चूके कि गये काम से। यानी अनेक जन्मों के बाद मिला मनुष्य देह रूपी रत्न धूल में मिल गया।

आप पूछ सकते हैं—जब इतना अनमोल इतना बेजोड़, इतना दुर्लभ, इतना नाजुक मनुष्य का जन्म मनुष्य का शरीर है तो फिर उसके लिए शान्ति प्राप्त करने का सीधा मार्ग कौन सा है, ? वह भी भौतिक विज्ञान के इस बढ़ते हुए युग में जबकि योग, तप, साधना, अनुष्ठान आदि करना अत्यन्त कठिन है।

वह मार्ग है केवल ज्ञान (सा विद्या या विमुक्तये)। ज्ञान में ही शान्ति है, जबतक ज्ञान न होगा हम अशान्त ही रहेंगे। आप पूछेंगे ज्ञान? कैसा ज्ञान? संसार और उसकी विभिन्न चीजों का अथवा कोई और? हम कहेंगे नहीं भाई आत्म ज्ञान। आप कह सकते हैं—यह तो हम में है। हम जानते हैं कि हम मनुष्य हैं और उनमें पण्डित हैं, ठाकुर हैं अथवा व्यापारी हैं सेवक हैं। हमारा शरीर ऐसा है, स्त्री ऐसी है, बच्चे ऐसे हैं, मकान ऐसा है। इतना धन है, इतना यश है, इतना नाम है, । इतना ही नहीं हमें अमुक अमुक देश के निवासी तथा उनके साहित्य कला और संस्कृति की पूरी जानकारी है। क्या यह सब ज्ञान नहीं है? हम कहेंगे - नहीं नहीं, कदापि नहीं। यह ज्ञान तो केवल भ्रान्ति जन्य है। स्थूल का ज्ञान है, स्वप्न का ज्ञान है। इसी ज्ञान के कारण तो हम वासनाएँ करते हैं,

पृणामें फँसे हुए हैं।फिर सत्य ज्ञान क्या है? सत्य ज्ञान तो वही आत्म-ज्ञान है। उस आत्मा का ज्ञान जो कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म यानी अणु से भी अणु है। जिससे आगा से दिखाई देने वाला यह स्थूल जगत् और उसकी असख्य चीजें पैदा हुई हैं। आत्मा की उस अनन्त-शक्ति का ज्ञान जिसके सागरों, करोड़ों मन से असख्य ऐटम, हाइड्रोजन (अणु-परमाणु) पैदा होते हैं। जिसके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। हम जिन-जिन चीजों को लेकर ज्ञानी बनने का दावा करते हैं जरा गहरी दृष्टि डालकर देखा जाय तो हम उनमें से कुछ भी नहीं हैं।न मनुष्य हैं, न पण्डित हैं, न ठाकुर हैं,न व्यापारी हैं, और न सेवक। हम कोई शरीर भी नहीं हैं आखिर फिर हैं तो क्या हैं ? हम तो वह हैं जो इन सबमें रहते हुए इन जैसा नहीं, इनसे बिलकुल भिन्न न्यारा है। इन सब निमित्तों का मूल कारण आत्मा है यानी देह नहीं आत्मा है।

इसी को जान लेना आत्म-ज्ञान, आत्म दर्शन, आत्म अनुभूति, आत्म साक्षात्कार, आत्म बोध स्वरूप ज्ञान, ब्रह्मज्ञान या अपने असली रूप को जान लेना है। यानी हम अभी तक अपने नकली रूप को ही जाने हुए हैं। पच भौतिक शरीर का ही "मैं" माने हुए हैं। और इसी से सबध रखने वाले इष्ट-अनिष्ट, अच्छे बुरे प्रसगो पर सुखी दुखी होते रहते हैं, इसी का नाम अविद्या है अज्ञान है। जब कि 'मैं' पचतत्वो से बना शरीर नहीं बल्कि आत्मा है जाकि सत्‌चित्त आनन्द है। उसी "मैं" अहम् या आत्मा को जान लेना ही अहम् ब्रम्हाऽस्मि शिवोऽहम् वाला यथार्थ ज्ञान है और इसी ज्ञान में है अखण्ड आनन्द पूर्ण शान्ति ।

हम अज्ञानी विषय वासना के कारण आजतक कितनी बार जन्म चुके हैं, कितनी बार मर चुके हैं। पशु, पक्षी कीट, पतग, आदि के कितनी बार शरीर धारण कर चुके हैं ? कोई गणना, कोई हिसाब कोई अदाज नहीं। हमारी इन्द्रियों का स्वभाव है विषयों की ओर दौड़ना। उनके पीछे पीछे दौड़ते हैं—मन, बुद्धि और अहकार। फल यह होता है कि दर्पण से निर्मल चित्त पर निरन्तर उसकी छाप पड़ती रहती है। जोकि सुख दुख, पुनर्जन्म आदि का कारण बनती है। इन्द्रियों की यह भाग दौड एक बड़े नशे के समान है। इस नशे की हमें लत पड चुकी है, हम पक्के नशेबाज बन चुके हैं। हम अज्ञान वश भूले हुए हैं कि यह नशा हमें अज्ञान की ओर लिए जा रहा है। इस नशे से छुटकारा पाने का एक ही सरल रास्ता है। वह यह कि मन को इधर उधर से हटाकर उस ओर लगावें जिधर आनन्द ही आनन्द हो। इसलिए कि मन उसमें रम सके,ठहर सके इसके लिए अनिवार्य है कि आनन्द का कोई न कोई स्थूल रूप हो-कोई मोटी शक्ल हो।

इसके लिए जरूरी है कि हमारे सामने किसी आनन्दमय देवता सत महात्मा की मूर्ति या चित्र हो। क्योंकि शून्य में तो मन लग ही नहीं सकता। आनन्द की कोई शक्ल सूरत ही नहीं ऐसी स्थिति में ध्यान करेंगे तो किस का। साराश यह कि मन को एकाग्र करने के लिए चित्त वृत्ति को एक ओर लगाने के लिए, बुद्धि निश्चयात्मक बनाने के

लिए हमें एक मात्र अनन्य भक्ति का ही आश्रय लेना चाहिए। भक्ति द्वारा सहज में ही चित्त सुख दुख के मूल कारण बाहरी विषयों से हटकर एकमात्र आनन्द अनुभव कर सकेगा।

यों तो योग के द्वारा भी मन एकाग्र होने से चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाती है जिससे चित्त एकमात्र आनन्द का ही अनुभव करने लगता है परन्तु इस (योग) में साधक को पतनके गर्त (गड्ढे) में गिरने की बहुत सम्भावना रहती है क्योंकि जब उसे सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है तो वह अपने लक्ष्य (आत्म ज्ञान के मार्ग) को छोड़ कर सिद्धियों के फेर में पड़कर भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति में लग जाता है।अथवा वह अपना महत्व जताने में लग जाता है। लोगों की वाह वाही प्राप्त करने में ही वह अपनी सार्थकता समझता है। परन्तु भक्त को ऐसा कोई भय नहीं रहता।

आप कह सकते है कि भक्त को भी तो सिद्धियाँ प्राप्त होती है फिर उसे भटकने का भय क्यों नहीं है? इसका सीधा-सा कारण यह है कि भक्त स्वयं अपने को भी अपने आराध्य को सौंप देता है, उसे तो अपने योग क्षेम तक का भी भान नहीं रहता। इस प्रकार उसके स्वय की तो कोई वस्तु ही नहीं रहती। जो कुछ भी अच्छा बुरा होता है वह उसे अपने आराध्य के द्वारा हुआ समझ कर उस सुख दुख से निर्लिप्त रहता है अर्थात् अच्छा होने पर न सुखी और बुरा होने पर न दुखी होता है। इस प्रकार उन प्राप्त सिद्धियों को अपने स्वार्थ के लिये प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। जब कभी भी उसके द्वारा कोई परमार्थिक अलौकिक कार्य होता है तब भी वह उस कार्य से होनेवाली प्रशंसा का पात्र अपने को नहीं समझता। क्योंकि वह सभी कार्यका कर्ता तो अपने आराध्य को मानता है। इसलिए सिद्धियों का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भक्त की उपमा बिल्ली के बच्चे से दी जाती है तथा योगी को बन्दर के बच्चे-समान कहा गया है। बिल्ली का बच्चा एक मात्र अपने माँ के ही सहारे रहता है। और बन्दर के बच्चा को खुद अपना ध्यान रखना पड़ता है। बँदरिया जब एक डाल से दूसरे डाल पर जाने के लिए कूदती है तो उसका बच्चा स्वयं की रक्षा में माँ के पेट से चिपके रहकर उसे मजबूती से पकड़े रहता है। जब कि बिल्ली का बच्चा आँख बन्द किए पड़ा रहता है। जहाँ उसकी माँ उठाकर डाल देती है वहीं वह पड़ रहता है। इस प्रकार योगी को अपने पर ज्यादा भरोसा रखना पड़ता है और भक्त सब कुछ भगवान को ही सौंप कर निश्चिन्त हो जाता है।

दूसरे शब्दों मे हम यूँ कह सकते हैं कि सहज स्वाभाविक विषयासक्तिकी अबाध धारा जिसे सहसा सुखा डालना असभव है उसे मोडकर आनन्दमय रूप से में लगा देने की क्रिया विशेष को ही योग अथवा भक्ति कहा जा सकता है।

जैसे मिट्टी का तेल एक बहुत बड़ी शक्ति है। किन्तु जब तक वह कुएँ में पड़ा

साफ कर दिया जाता है तो स्पिरिट और पेट्रोल का रूप धारण करके बड़े बड़े ... को चलाने की सामर्थ्य रखता है। इसी प्रकार आसक्ति भी भोगों का मैल हटा-कर स्वच्छ पवित्र होकर महान शक्तिशाली भक्ति बन जाती है। उसी भक्ति की सीमा है–ज्ञान।

भक्त बन कर जब हम अपने इष्ट देव (भगवान) की भक्ति में तन्मय हो जाते तो हमें संसार और उसके लुभावने भोगों की ओर भागने का समय ही नहीं मिलता। जब भगवान के चरण कमलों में आनन्द आने लगता है तो दुनिया की सारी चीजें नीरस लगने लगती हैं।

"जेहि मधुकर अंबुज रस चाख्यो, क्यों करील फल चाखै।
(सूरदास)

भक्ति वेग से आगे बढ़ती है। भक्त बाहर भीतर सर्वत्र क्षण क्षण में अपने भग-वान को देखने लगता है। जड़ हो या चेतन, शत्रु हो या मित्र, अच्छा हो या बुरा, सबको समान दृष्टि से देखता है। प्यार करता है। भला क्या न करे? आखिर सृष्टि है तो उसी प्रियतम की बनाई हुई। प्यारे की हर चीज से प्यार होना स्वाभाविक ही है। उस अवस्था में भक्त जो भी कर्म करता है–भगवान को ही अर्पण कर देता है।

उस समय होने वाले कर्म सर्वथा निष्काम अनासक्त ही होते हैं। यानी कर्म करते हुए भी उनसे किसी तरह का लगाव नहीं होता। क्योंकि ध्यान एक ओर लगा होने से मन का उन कामों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे सब काम भी अपने लिए नहीं बल्कि भगवान की प्रीति के लिए होते हैं। चूँकि हर प्रेमी अपने प्रियतम को अच्छी से अच्छी चीज ही देना चाहता है इसलिए भक्त भी भगवान को अर्पण करने के लिए अच्छे से अच्छे कर्म ही करता है। इस प्रकार वह स्वभावतः बुरे कर्मों से बच जाता है, या दूसरे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि निस्वार्थ होने के कारण वह बुरे कर्म करता ही नहीं। क्योंकि मनुष्य स्वार्थ-पूर्ति के लिए ही बुरे कर्म करता है।

जहाँ भक्ति पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, पूरी तरह पक जाती है। वहीं ज्ञान का उदय हो जाता है। भक्त ज्ञानी बन जाता है। ज्ञानी बना कि बस फिर शान्ति ही शान्ति, आनन्द ही आनन्द है।

प्रश्न उठ सकता है कि क्या भक्ति का क्षेत्र किसी देवता या संत महात्मा तक ही सीमित है? देश या राष्ट्र अथवा समाज की भक्ति नहीं की जा सकती? हम कहेंगे क्यों नहीं की जा सकती, अवश्य की जा सकती है। संसार में जितने महापुरुष या अवतार आज तक हुए हैं उन्होंने देश से ही प्रेम किया है, देश की ही सेवा की है, देश का ही गौरव बढ़ाया है। निस्वार्थ भाव से की जानेवाली देश-भक्ति भी भगवान के

भक्ति के समान ही है और आनन्ददायिनी भी है क्योंकि इसमें भी चित्त की वृत्तियाँ सब ओर से हटकर एक ही ओर लग जाती हैं जो कि अनिवार्य है। जिसके बिना आनन्द मिल ही नहीं सकता।

मेरा देश उन्नति करे, मेरे देशवासी सुखी हों, मेरे देश का संसार में मान बढ़े यही लक्ष्य होता है देश भक्त का। मुझे सुख मिले या न मिले,मेरा घर बसे या न बसे, मुझे रोटी मिले या न मिले, मैं दुनियाँ में रहूँ या न रहूँ, मेरा देश रहे, मेरे देश की शान रहे। अहा! कितनी ऊँची भावना है। यही देशप्रेम की भावना जब विश्वप्रेम में बदल जाती है तब वह महात्मा या सन्त कहलाता है। ऐसे महात्मा संसार में मुश्किल से कभी कभी जन्म लेते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम, योगेश्वर कृष्ण, महात्मा बुद्ध, महात्मा ईसा, आदि ऐसी ही महान् आत्माएँ थीं। इतना ही नहीं एक सच्चा समाज सेवक भी एक हदतक शान्ति प्राप्त कर लेता है।

उदाहरण के लिए वह एक स्कूल खोल देता है या एक कुआँ बनवा देता है। तो जहाँ उसका बच्चा शिक्षा पाता है वहाँ समाज के अन्य बच्चों को भी शिक्षा की सुविधा प्राप्त हो जाती है। इसी तरह जहाँ उसकी अपनी जल पूर्ति होती है वहाँ और भी अनेकों मनुष्य अपनी प्यास बुझा सकते हैं। इस धुन में उसे कितनी शान्ति मिलती है-वह ही जानता है।

ज्ञानी बन जाने पर अपने स्वरूप को जान लेने पर ऐसी स्थिति हो जाती है कि, न किसी से राग न किसी से द्वेष,न कोई शत्रु, न कोई मित्र, न कोई अपना न कोई पराया। सब समान। प्रश्न हो सकता है कि ज्ञानी देख रहा है कि एक आदमी पर दूसरा आदमी अत्याचार कर रहा है। उस समय उसका क्या कर्त्तव्य है? यों ज्ञानी की दृष्टि में तो सभी समान हैं जैसा पीटा जानेवाला वैसा पीटनेवाला। इसका समाधान यही है कि उसकी नजर में दोनों ही समान हैं फिर भी वह चूँकि वह (ज्ञानी) एक सामाजिक प्राणी है इसलिए स्वभावतः समाज का कल्याण ही सोचेगा। यानी अत्याचारी का डटकर विरोध करेगा, फिर चाहे उसका अपना पुत्र ही क्यों न हो,। उसे भी वही न्यायोचित दण्ड देगा जो किसी दूसरे को दिया जा सकता है। और यही है एक निष्काम कर्म करनेवाले आत्म-ज्ञानी की पहचान।

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि ज्ञानी विकार रहित, शुद्ध सच्चिदानन्द घन स्वरूप हो जाता है—इसमें आखिर आनन्द है? क्योंकि जो स्वयं आनन्द है—उसे आनन्द का अनुभव किस प्रकार हो सकता है। मिश्री को अपने मिठास का क्या पता? जब तक कि कोई दूसरा स्वाद चखनेवाला न हो। इसका उत्तर यही है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म आनन्द का अनुभव करने के लिए ही खेल खेलता है, माया के द्वारा सृष्टि की रचना करता है और फिर अपने में ही सब कुछ लीन कर लेता है जैसा कि हम प्रारम्भ में बता आए हैं। हममें और उस आत्म ज्ञानी में यही अंतर है कि हम इच्छाओं के बहाव में,

आगे बढ़कर बहते चले जाते हैं। और वह इतना गम्भीर है कि (बिना उसे चलायमान किए) उसमें समस्त इच्छाएँ समा जाती हैं।

नश्वर जगत के भोगों से (चाहे सात द्वीपों की भोग सामग्री क्यों न हो) तृप्ति कभी हो ही नहीं सकती। एक इच्छा पूरी होती है, क्षण भर सुख मिलता है कि दूसरी इच्छा का जन्म होता है। वह भी पूरी हो गयी तो फिर तीसरी फिर चौथी। इस प्रकार जीवन का अन्त हो जाता है इच्छाओं का नहीं। और आज तो संसार में भोग इच्छाएँ इतनी बढ़ गयी हैं उनका विस्तार इतना हो गया है कि पृथ्वी की भोग सामग्री भी उनकी पूर्ति नहीं कर सकती। इसलिए तो आकाश पर धावा बोला जा रहा है।

इच्छा के वशीभूत होकर—तृष्णा में डूबकर आज संसार कितना भटक गया है। आनन्द प्राप्त हो तो कैसे ? जबकि इच्छाओं द्वारा चित्त की वृत्ति बराबर हिलाई जा रही है तृष्णा के कारण चित्त डाँवाडोल है। जिस प्रकार हिलते डुलते जल में सूरज का प्रतिबिम्ब नजर नहीं आता उसी प्रकार इच्छाओं से चलायमान हमारा चित्त आनन्द का अनुभव कर ही नहीं सकता हालांकि आनन्द इसी में है। क्योंकि एक इच्छा पूरी होने पर क्षण भर का आनन्द मिलता है-आखिर वह आया कहाँ से ? वही आनन्द तो है जो कि हमारे भीतर है। किन्तु फौरन पैदा होनेवाली इच्छा उसे नष्ट कर देती है। मनुष्य जैसी श्रेष्ठ योनी पाकर भी इस निन्यानवे से बचने का प्रयत्न हमने न किया तो हम जैसा मूर्ख कौन होगा। क्योंकि मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है जिसमें कि पूर्ण ज्ञानी बना जा सकता है।

संक्षेप में यूँ कहा जा सकता है कि अज्ञानियों की चित्त वृत्ति इच्छाओं के द्वारा हिलती रहती है जिसके कारण वे अशान्त रहते हैं। विपरीत इसके ज्ञानियों की चित्त वृत्ति इच्छाओं से हिलती नहीं बल्कि वे इच्छाएँ उसमें समा जाती हैं। जैसे समुद्र को चलायमान किए बिना अनेक नदियाँ समा जाती है

प्रश्न हो सकता है कि मान लो कोई ज्ञानी हो गया लेकिन उससे देश का, समाज का क्या लाभ होगा ? यही कि ज्ञानी की दृष्टि में अपने पराए का भेद नहीं होता इसलिए वह चाहेगा कि जो प्रकाश मुझे मिला है वह सबको मिले जो अमृत मैंने पिया है वह सब पीएँ। जो आनन्द मैंने पाया है वह सभी पाएँ। नतीजा यह होगा कि सम्पूर्ण समाज पर देश पर यहाँ तक कि संसार पर उसका प्रभाव पड़ेगा। भटकनेवालों को राह, अंधा को आँखें दुखिया को आनन्द और व्याकुलों को शान्ति मिलेगी।

असम्भव नहीं कि एक दिन समाज आनन्द ही आनन्द का अनुभव करे। संसार भर में शान्ति ही शान्ति हो क्या कि एक दीपक से अनेक दीपक जल उठते हैं।

अन्त में हम उस परमपरमात्मा से यही प्रार्थना करते हैं कि सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य हो।

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग्भवेत ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

याद रखिए

केवल यह सुन लेने और बोल देने मात्र से ही कि, मै ब्रह्म हूँ, न तो आत्म-ज्ञानी ही बना जा सकता है, न ही अखड आनन्द एव पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है। उसी प्रकार जैसे कि केवल यह जान लेने से कि, भोजन इस-इस प्रकार से तैयार होता है, उससे न तो भोजन ही बन जाता है, न ही क्षुधा शान्त हो सकती है। यह तो तब ही शान्त होती है जब सामग्री जुटा भोजन तैयार कर, भोजन कर लिया जाता है। इसी प्रकार सच्चाई पूर्वक सत्साधनो के अनुष्ठान से जब अंत करण के मल, विक्षेप रूप दोष दूर हो जाते है, तब वेदान्त के श्रवण, मनन एव निदिध्यासन से विशुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है, जिसके प्रकाश मे अखड आनन्द और पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। जैसा कि पूर्वाचार्योंने कहा है —

> वीतराग भय क्रोधैर्मुनिभिर्वेद पारगैं ।
> निर्विकल्पो ह्यय दृष्ट प्रपञ्चोपशमोऽद्वय ॥

जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गए है उन वेद के पारगामी मुनियो द्वारा ही यह निर्विकल्प प्रपञ्चोपशम (प्रपञ्चरहित) अद्वय तत्व देखा गया है।